अल-रिसाला

मई 2021 ● www.cpsglobal.org

आख़िरत में सिर्फ़ उस शख़्स को ख़ुदा का दीदार हासिल होगा, जिसने दुनिया में ख़ुदा को देखने की निगाह पैदा की हो।

अल-रिसाला

ज़ेर-ए-सरपरस्ती

मौलाना वहीदउद्दीन ख़ान

सदर-ए-इस्लामी मर्कज़

CPS International
centre for peace & spirituality

Centre for Peace and Spirituality International
1, Nizamuddin West Market,
New Delhi-110013
e-mail: info@cpsglobal.org
www.cpsglobal.org

फेहरिस्त
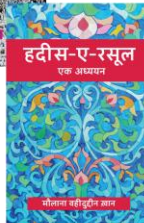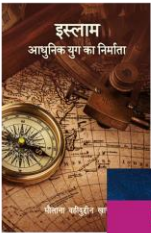
संपादन टीम

ख़ुर्रम इस्लाम क़ुरैशी
मोहम्मद आरिफ़
फ़रहाद अहमद
इरफ़ान रशीदी
राजेश कुमार

New Books

To order books of Maulana
Wahiduddin Khan, please contact
Goodword Books
Tel. 011-41827083,
Mobile: +91-8588822672
E-mail: sales@goodwordbooks.com

Goodword Bank Details
Goodword Books
State Bank of India
A/c No. 30286472791
IFSC Code: SBIN0009109
Nizamuddin West Market Branch

डायरी से इंतिख़ाब

17 सितंबर, 1985

हर आदमी के अंदर एक इंसान है और इसी के साथ उसके अंदर एक शैतान भी छिपा हुआ है। अक्सर लोग अपनी नादानी से इंसान को खो देते हैं। यह सिर्फ़ शैतान है, जो उनके हिस्से में आता है।

28 अक्तूबर, 1985

रमज़ान के बारे में मुख़्तलिफ़ रिवायतें हदीस की किताबों में आई हैं। उसका तर्जुमा इस तरह है— "इस माह में शयातीन क़ैद कर दिए जाते हैं।" (सही अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 1,079)

हदीस के अल्फ़ाज़ को इसके ज़ाहिरी मफ़हूम में लिया जाए तो इसका मतलब यह होगा कि रमज़ान के महीने में तमाम दुनिया के शयातीन मुकम्मल मायनों (absolute sense) में क़ैद कर दिए जाते हैं। हालाँकि यह बात ज़ाहिरी एतबार (prima facie) से ख़िलाफ़-ए-वाक़या है, क्योंकि देखने में आता है कि रमज़ान के महीने में वे तमाम गुनाह बदस्तूर होते रहते हैं, जो साल के दूसरे महीनों में होते हैं।

इसलिए हदीस का मफ़हूम क़ैद के साथ लेना होगा यानी यह कि ईमानदारी (sincerity) के साथ रोज़ा रखने वालों के लिए अल्लाह की मदद आती है और शयातीन का इन पर ग़लबा नहीं हो पाता है यानी जो लोग सच्ची स्पिरिट के साथ रोज़ा रखते हों, उनके अंदर रमज़ान में गुनाहों की ख़्वाहिश नहीं होती या बहुत कम हो जाती है। इस किस्म के लोगों की हालत को क़ुरआन में इस तरह बयान किया गया है—"बेशक जो मेरे बंदे हैं, उन पर तेरा ज़ोर नहीं चलेगा; सिवा उनके, जो गुमराहों में से तेरी पैरवी करें।" (15:42)

हदीस एक दावती और तर्बीयती कलाम है और दावती और तर्बीयती कलाम में यही अंदाज़ ज़्यादा मुअस्सिर है। मंतक़ी उस्लूब दावत-ओ-तर्बीयत के लिए मुअस्सिर नहीं। अगर यह कहा जाता कि जो रोज़ेदार पूरे शराइत-ओ-आदाब के साथ रोज़ा रखे तो उसके शयातीन क़ैद कर दिए जाएँगे तो कलाम की तासीर निस्बतन कम हो जाती।

20 नवंबर, 1985

अब्दुर्र-रहमान बिन अब्दुल क़ारी ताबई (वफ़ात : 80 हिजरी) कहते हैं कि मैं रमज़ान की एक रात दूसरे ख़लीफ़ा उमर बिन ख़त्ताब के साथ मस्जिद गया। उस वक़्त लोग मुख़्तलिफ़ हालतों में नमाज़ अदा कर रहे थे। कोई तन्हा नमाज़ पढ़ रहा था और कोई चंद आदमियों के साथ। हज़रत उमर ने कहा कि मेरा ख़्याल है कि अगर मैं इन सबको एक इमाम पर जमा कर दूँ तो यह बहुत अच्छी बात होगी। फिर मशवरा करके आपने उबई बिन काब को उनका इमाम बना दिया। दूसरी रात को दोबारा जब मैं हज़रत उमर के साथ मस्जिद की तरफ़ निकला तो लोग अपने इमाम के पीछे नमाज़ पढ़ रहे थे। हज़रत उमर ने यह देखकर कहा कि कैसी अच्छी है यह बिदअत। (सही अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 2,010)

बिदअत इस्लाम में बुरी चीज़ है, जबकि हज़रत उमर ने यहाँ उसे अच्छा बताया है। इसकी वजह यह है कि यहाँ बिदअत के लफ़्ज़ से इस्तिलाही (terminology) बिदअत मुराद नहीं है। यहाँ यह अपने लफ़्ज़ी मायने में है, न कि शरई इस्तिलाह के मायने में।

यह एक सादा-सी मिसाल है, जिससे अंदाज़ा होता है कि किसी बात को समझने के लिए तफ़्सीली और जामे इल्म बहुत ज़रूरी होता है। जिस शख़्स ने सिर्फ़ मसाजिद के वाज़ में 'बिदअत' का लफ़्ज़ सुना हो, वह इस हदीस को सही तौर पर समझ नहीं सकता। इस हदीस में 'बिदअत' का मफ़हूम समझने के लिए ज़रूरी है कि आदमी उसके इस्तिलाही मफ़हूम के साथ उसके लफ़्ज़ी मफ़हूम को भी जानता हो। सिर्फ़ एक मफ़हूम को जानना हदीस को समझने के लिए काफ़ी नहीं। यही उसूल ज़िंदगी के दूसरे मामलों में भी चस्पाँ होता है।

2 अक्तूबर, 1985

बाज़ हदीसें मायने के एतबार से ग़ैर-मोतबर साबित हो जाती हैं। मसलन— एक हदीस इन अल्फ़ाज़ में आई है— “शाबान के महीने को दूसरे महीनों पर वैसी ही फ़ज़ीलत है, जैसी मेरी फ़ज़ीलत दूसरे अंबिया पर।” (अल-मक़ासिद अल-हसना, हदीस नंबर 740)

महीनों में से कोई महीना अगर अफ़ज़ल हो तो यह अफ़ज़लीयत सबसे पहले रमज़ान के महीने को हासिल होगी, क्योंकि क़ुरआन से साबित होता है कि क़ुरआन रमज़ान के महीने में उतरा और जिस महीने में क़ुरआन उतरा, इसमें एक रात ऐसी है, जो हज़ार रातों से बेहतर है। ऐसी हालत में कैसे यक़ीन किया जा सकता है कि कोई दूसरा महीना रमज़ान से भी ज़्यादा अफ़ज़ल होगा।

29 अक्तूबर, 1985

एक हदीस-ए-रसूल है, जिसका तर्जुमा इस तरह है— “एक शख़्स उस वक़्त तक बराबर नमाज़ में रहता है, जब तक वह मस्जिद में नमाज़ का मुंतज़िर रहे।” (सही अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 647) इसका मतलब यह नहीं कि सिर्फ़ मस्जिद में मौजूद रहना ही सवाब का बाइस बन जाता है। इसका मतलब यह है कि जो शख़्स नफ़्सियात-ए-नमाज़ के साथ नमाज़ के इंतज़ार में हो, उसका यह वक़्त भी नमाज़ में शुमार हो जाता है और उसे वही सवाब मिलता है, जो नमाज़ पढ़ने वाले को मिलता है।

इस तरह की हदीसों को समझने के लिए यह जानना ज़रूरी है कि वह किसी पत्थर के मुजस्समा या रोबोट के बारे में नहीं हैं, बल्कि ज़िंदा इंसान के बारे में हैं। इंसान सोचता है। वह साहिब-ए-नफ़्सियात मख़्लूक़ है। ऐसा इंसान जब नमाज़ के इंतज़ार में बैठा हो तो उसका बैठना सादा क़िस्म का बैठना नहीं होता। वह अगर सच्चा नमाज़ी है तो नमाज़ के इंतज़ार के वक़्त भी नमाज़ के बारे में सोचेगा। उस

वक़्त भी उसका दिल ख़ुदा में लगा रहेगा। यही वह कैफ़ीयत है, जो उसके इंतज़ार-ए-नमाज़ के लम्हात को भी अदा की गई नमाज़ के लम्हात में शामिल कर देती है।

30 अक्तूबर, 1985

इक्रिमा ने रिवायत किया कि अब्दुल्लाह बिन अब्बास ने क़ुरआन की सूरह अल-हदीद की आयत 23 के तहत कहा— "कोई ऐसा शख़्स नहीं, जो ग़मगीन न होता हो और ख़ुश न होता हो, मगर मोमिन अपनी मुसीबत को सब्र बना लेता है और अपने फ़ायदे को शुक्र बना लेता है।" (अल-क़ुरतुबी, जिल्द 17, सफ़्हा 258)

गाय के अंदर घास दाख़िल होती है तो उसका अंदरूनी निज़ाम उसे दूध में तब्दील कर देता है और घास उसके अंदर से दूध बनाकर निकलती है। इसी तरह मोमिन के अंदर एक ख़ुसूसी नफ़्सियाती निज़ाम होता है। यह निज़ाम मुसीबत को ख़ुदा के लिए सब्र में बदल देता है और राहत को ख़ुदा के लिए शुक्र में। इस तरह दोनों हालतें उसके हक़ में नेअमत बन जाती हैं। इस रिवायत में 'बना लेता' का लफ़्ज़ बहुत बा-मायना है यानी वह अपने ग़म को मनफ़ी रास्ते पर लगाने के बजाय सब्र में कन्वर्ट करता है।

31 अक्तूबर, 1985

क़ुरआन में आया है— "फिर उससे बढ़कर ज़ालिम कौन है, जो अल्लाह पर झूठ बोले और उसने सच्ची बात को झुठलाया, जबकि वह उसके पास आई। क्या मुनकिरों का ठिकाना दोज़ख़ में नहीं? और जो सच्ची बात लेकर आया और जिसने उसे सच माना, वही लोग डरने वाले हैं। उनके लिए वह है, जो वे चाहें। यह बदला है नेकी करने का।" (39:32-34)

इस आयत से मालूम होता है कि सच्चाई का एतराफ़ करना सबसे बड़ी नेकी है और सच्चाई का इनकार करना सबसे बड़ा जुर्म। सच्चाई का ज़हूर गोया ख़ुद ख़ुदा का ज़हूर है। इसलिए सच्चाई को नज़रअंदाज़ करना ख़ुदा को नज़रअंदाज़ करना है। ऐसे लोग क़यामत के दिन बिलकुल ज़लील-ओ-ख़्वार होकर रह जाएँगे।

जिन लोगों के दिलों में तक़्वा (खटक) हो, उनके सामने जब सच्चाई आती है तो वे संजीदगी के साथ उस पर ग़ौर करते हैं। उनका संजीदा ग़ौर-ओ-फ़िक्र उन्हें यहाँ तक पहुँचाता है कि वे सच्चाई को पा लें और इसका एतराफ़ करके उसके साथी बन जाएँ।

7 अगस्त, 1985

आदमी अपने बेटे की कामयाबी पर हसद नहीं करता, मगर दूसरा कोई शख़्स कामयाब हो तो उसे देखकर वह हसद में मुब्तला हो जाता है। इसकी वजह यह है कि बेटे की कामयाबी को वह अपनी कामयाबी समझता है और दूसरे शख़्स की कामयाबी को ग़ैर की कामयाबी।

8 अगस्त, 1985

ओलीवर वेंडल होम्ज़ (1809-1894) ने कहा है कि नौजवान शख़्स उमूम को देखता है और उम्र रसीदा शख़्स इस्तिस्ना को।

The young man knows the rules, but the old man knows the exceptions.

ज़िंदगी का सफ़र हमेशा हमवार नहीं होता। ज़िंदगी में अक्सर ऐसा होता है कि कोई इत्तिफ़ाक़ी रुकावट सामने आकर हमारे सोचे हुए नक़्शे को बिगाड़ देती है। इसलिए अक़्लमंद वह है, जो सिर्फ़ आम हालात पर भरोसा न करे, बल्कि ग़ैर-मुतवक़्क़े (unexpected) इमकानात को ज़हन में रखकर अपना मंसूबा बनाए।

9 अगस्त, 1985

आइरिश शायर ऑस्कर वाइल्ड (1854-1900) ने कहा है कि इंसान एक अक़्लमंद जानवर है, जो हमेशा उस वक़्त नाराज़ हो जाता है, जबकि उसे अक़्ल के मुताबिक़ अमल करने के लिए कहा जाए।

Man is a rational animal who always loses his temper when he is called upon to act in accordance with dictates of reason.

कैसा अजीब है यह तज़ाद (contradiction), जो इंसान की ज़िंदगी में पाया जाता है। हर इंसान का यह हाल है कि दूसरों के ख़िलाफ़ अक़्ल को इस्तेमाल करने में वह निहायत होशियार है, लेकिन अगर ख़ुद अपने ख़िलाफ़ अक़्ल को इस्तेमाल करनी हो तो वह ऐसा बन जाएगा, जैसे कि उसके पास अक़्ल ही नहीं, जो किसी बात को समझे और किसी मामले की गहराई तक उतर सके।

10 अगस्त, 1985

आदमी दूसरों के बेटे के बारे में हसद के ज़हन से सोचता है और ख़ुद अपने बेटे के बारे में ख़ैर-ख़्वाही के ज़हन से। एक शख़्स की ज़िंदगी बरबाद हो गई हो तो दूसरों के बारे में वह चाहता है कि जिस तरह मैं बरबाद हुआ हूँ, वह भी बरबाद हो जाए, मगर ख़ुद अपनी औलाद के बारे में उसका ज़हन इसके बरअक्स होता है। अपनी औलाद के बारे में वह सोचता है, अगरचे मेरी ज़िंदगी बरबाद हो गई, मगर मेरी औलाद की ज़िंदगी बरबाद न होने पाए।

12 अगस्त, 1985

ख़ालिस हक़ इस दुनिया में सबसे ज़्यादा अजनबी चीज़ है। हर दूसरी चीज़ के गिर्द इंसानों की भीड़ जमा हो सकती है, मगर ख़ालिस हक़ के गिर्द चंद इंसानों को इकट्ठा करना भी इंतिहाई हद तक दुश्वार है। पैग़ंबरों की तारीख़ इसका ज़िंदा सबूत है। पैग़ंबर आख़िर-उज़-ज़मा को छोड़कर तमाम मालूम पैग़ंबरों की तारीख़ बताती है कि उनमें से हर एक को सिर्फ़ ऐसे ही कुछ अफ़राद मिल सके, जो ख़ूनी रिश्ते की बिना पर उनसे नफ़्सियाती ताल्लुक़ रखते थे। ख़ूनी रिश्ते से बाहर कोई शख़्स उन्हें नहीं मिला, जो हक़ीक़ी मायनों में उनका साथी बन सके।

हज़रत इब्राहीम का साथ देने वाले सिर्फ़ उनके भतीजे हज़रत लूत और उनके बेटे हज़रत इस्माईल थे। हज़रत लूत का साथ आख़िरी वक़्त में सिर्फ़ उनकी बेटियों

ने दिया। हज़रत मूसा के सच्चे साथी सिर्फ़ हज़रत हारून साबित हुए, जो उनके भाई थे। हज़रत मसीह को उनकी माँ के सिवा कोई दूसरा न मिल सका। दूसरे लोग जो मिले थे, वे सब आख़िरी वक़्त में उन्हें छोड़कर भाग गए वग़ैरह।

पैग़ंबरों की तारीख़ में इस एतबार से सिर्फ़ पैग़ंबर आख़िर-उज़-ज़मा का इस्तिस्ना (exception) है। उनको ग़ैर-रिश्तेदारों में भी ऐसे साथी मिले, जो वाक़ई साथी थे। जो साथ छोड़ने के तमाम मुमकिन वाक़यात पेश आने के बावजूद आख़िरी वक़्त तक उनके साथी बने रहे, मगर मैं समझता हूँ कि यह बराह-ए-रास्त ख़ुदा की मदद से हुआ।

हमारे सीरत निगार रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम का यह मोजिज़ा बयान करते हैं कि दरख़्त और पत्थर उनके साथ चलने लगे। मैं समझता हूँ कि आपका सबसे बड़ा मोजिज़ा यह है कि इंसान आपके साथ चलने लगे थे और यह मोजिज़ा बराह-ए-रास्त ख़ुदाई नुसरत के तहत पेश आया, जैसा कि क़ुरआन में आया है— “अल्लाह ने तुमको ईमान की मुहब्बत दी और इसे तुम्हारे दिलों में पसंदीदा बना दिया और कुफ़्र और फ़िस्क़ और ना-फ़रमानी से तुमको बेज़ार कर दिया।” (49: 7)

इसकी वजह यह है कि पैग़ंबराना सच्चाई हमेशा ख़ालिस सच्चाई होती है। तारीख़ से कटकर और माहौल से उठकर ही आदमी पैग़ंबराना सच्चाई को पहचान सकता है और बदक़िस्मती से ऐसे लोग मालूम इंसानी तारीख़ के मुताबिक़ शायद पैदा ही नहीं हुए।

13 अगस्त, 1985

हदीस में बताया गया है कि इंसान के जिस्म के अंदर गोश्त का एक टुकड़ा है। अगर वह दुरुस्त हो तो पूरा जिस्म दुरुस्त रहता है और अगर उसमें बिगाड़ आ जाए तो सारा जिस्म बिगड़ जाता है और यह क़ल्ब है।(सही अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 52)

इस हदीस से मालूम होता है कि ज़िंदगी की इस्लाह का दार-ओ-मदार ‘क़ल्ब’ की इस्लाह पर है। यहाँ क़ल्ब का लफ़्ज़ अक़्ल के मायने में है। दूसरे लफ़्ज़ों में हर

क़िस्म की तब्दीलियों का राज़ अंदरूनी तब्दीली में है यानी सोच-ओ-फ़िक्र की तब्दीली, न कि ज़ाहिरी तब्दीली।

इस हदीस की रोशनी में मौजूदा ज़माने में मुसलमानों की तमाम बड़ी-बड़ी तहरीकें ग़ैर-फ़ितरी क़रार पाती हैं, क्योंकि इन तहरीकों का निशाना दूसरी चीज़ों की तब्दीलियाँ थीं, न कि अंदरूनी तब्दीली। किसी का निशान तब्दीली-ए-हुकूमत था और किसी का निशान तब्दीली-ए-जुगराफ़िया, किसी का निशान तब्दीली-ए-क़यादत था और किसी का निशान तब्दीली-ए-क़ानून। मौजूदा ज़माने की वह तमाम हंगामाख़ेज़ तहरीकें, जिन पर मुसलमान फ़ख़्र करते हैं, वे सब इसी क़िस्म की ख़ारिजी तब्दीलियों का नारा लेकर उठीं। इनमें से कोई तहरीक ऐसी नहीं, जो तब्दीली-ए-क़ल्ब या तब्दीली-ए-इंसान के मंसूबे के तहत उठाई गई हो।

ख़ारिजी तब्दीली को निशाना बनाकर जो इंक़लाब लाया जाए, उसका अंजाम हमेशा सिर्फ़ एक होता है— एक बुराई को हटाकर दूसरी शदीदतर बुराई ले आना। किसी शख़्स ने निहायत सही कहा है—

A revolution is a successful effort to replace a bad government with a worse one.

इंक़लाब इस बात की एक कामयाब कोशिश है कि एक बुरी हुकूमत से छुटकारा पाकर उससे ज़्यादा बुरी हुकूमत क़ायम की जाए।

14 अगस्त, 1985

शाह वलीउल्लाह और उनके पैरुओं ने कहा कि सिख और मराठा से इस्लाम को ख़तरा है। सिख और मराठा रास्ते से हटा दिए गए, मगर इस्लाम बदस्तूर ख़तरे में बाक़ी रहा। शाह अब्दुल अज़ीज़ और उनके पैरुओं ने कहा कि अंग्रेज़ों से इस्लाम को ख़तरा है। अंग्रेज़ों का इक़्तिदार ख़त्म हो गया, मगर इस्लाम का जो मसअला था, वह हल न हुआ।

मुहम्मद अली जिन्नाह और दूसरे मुस्लिम लीडरों ने कहा कि हिंदू फ़िर्क़े से इस्लाम को ख़तरा है। हिंदू से कटकर मुसलमानों की अलैहदा रियासत क़ायम हो गई, मगर उसके बावजूद इस्लाम मसाइल से घिरा रहा।

मौलाना अबू आला मौदूदी और उनके हम-ख़याल लोगों ने कहा कि अय्यूब और भुट्टो से इस्लाम को ख़तरा है। अय्यूब और भुट्टो का इक़्तिदार ख़त्म हो गया, मगर इस्लाम का ख़तरा ख़त्म नहीं हुआ। मौलाना अली मियाँ और उनके मानने वालों ने कहा कि सुप्रीम कोर्ट के शाह बानो केस के फ़ैसले से इस्लाम को ख़तरा है। पार्लियामेंट ने मुसलमानों को सुप्रीम कोर्ट के फ़ैसले से आज़ाद कर दिया, मगर इस्लाम बदस्तूर ख़तरे में घिरा रहा।

यह मुसलमानान-ए-हिंद की तक़रीबन चार सौ साल की तारीख़ का ख़ुलासा है। हर वह ताक़त, जिसे मुसलमानों ने इस्लाम का दुश्मन क़रार दिया, वह रास्ते से हटाई जाती रही, मगर इस्लाम और मुसलमान बदस्तूर ख़तरात में घिरे रहे। हिंदुस्तान में भी, पाकिस्तान में भी और बांग्लादेश में भी। यह तवील तजुर्बा यह बताने के लिए काफ़ी था कि मुस्लिम लीडरों की निशानदेही ग़लत थी, मगर मुसलमानों की बेशऊरी का यह हाल है कि हर अगला लीडर पिछले लीडरों का सिर्फ़ मुक़ल्लिद बना हुआ है। माज़ी की नादानियों ने मुसलमानों को कोई सबक़ नहीं दिया।

15 अगस्त, 1985

कहा जाता है कि ख़लीफ़ा हारून रशीद ने एक बार इमाम शाफ़ई से पूछा कि ख़ुदा की किताब के बारे में आपका इल्म क्या है। इमाम शाफ़ई ने जवाब दिया कि उलूम-ए-क़ुरआन की बहुत-सी क़िस्में हैं। आपकी मुराद किस इल्म से है? क्या अमसाल-ओ-अख़बार से, मुहकमात से, मुतशाबिहात से, तक़दीम-ओ-ताख़ीर से, नासिख़ व-मंसूख़ से, बा-एतबार मकान मक्की-ओ-मदनी से या बा-एतबार ज़माना रात या दिन से, सैफ़ी व शलाई (गर्मी या सर्दी) से, बा-एतबार क़ियाम और सफ़र-ओ-हज़र से, उसके एराब और हुरूफ़-ओ-अल्फ़ाज़ से? इस तरह इमाम शाफ़ई ने क़ुरआन के 73 उलूम गिना दिए।

हारून रशीद ने यह सुनकर कहा कि आपने क़ुरआन के काफ़ी उलूम को जमा कर लिया है। (मिर-अ-तुल जनान लिलयाफ़ई, जिल्द 2, सफ़्हा 17)

बज़ाहिर यह बड़े कमाल की बात मालूम होती है, लेकिन जब इस एतबार से देखा जाए कि सहाबा किराम क़ुरआन के इन 73 उलूम से वाक़िफ़ न थे तो यह महारत इस्लाम के बजाय महज़ एक फ़न नज़र आने लगती है, क्योंकि इस्लाम अगर इन उलूम का नाम होता तो सहाबा किराम ज़रूर इन उलूम के माहिर होते।

16 अगस्त, 1985

अमेरिकी राइटर राल्फ वाल्डो एमर्सन (1803-1882) ने लिखा है कि तुम एक अच्छा चूहेदान बनाओ और दुनिया ख़ुद ही चलकर तुम्हारे दरवाज़े पर आ जाएगी।

Build a better mousetrap and the world would beat a path to your door.

लोगों के नज़दीक सबसे ज़्यादा अहम चीज़ मेयार (quality) है। हर आदमी यह चाहता है कि जो चीज़ वह बाज़ार से ख़रीदे, वह आला मेयार की हो। इस्तेमाल के वक़्त हर एतबार से वह बेहतरीन साबित हो।

लोगों का यह मिज़ाज ही किसी आदमी के लिए मौजूदा दुनिया में तरक़्क़ी का सबसे बड़ा ज़ीना है। जो शख़्स यह चाहता है कि उसे दुनिया में इज़्ज़त और तरक़्क़ी का मुक़ाम हासिल हो, उसे सिर्फ़ एक काम करना चाहिए। वह जो भी काम करे, आला मेयार पर करे। इसके बाद दुनिया ख़ुद उसे उसका मत्लूब मुक़ाम देने पर मजबूर हो जाएगी।

दिल्ली में इस उसूल की एक ज़िंदा मिसाल ख़लीक़ अहमद टोंकी (पैदाइश : 1932) हैं। उन्होंने किताबत के काम में एक तवील उम्र सर्फ़ कर दी, यहाँ तक कि वे दिल्ली के सबसे अच्छे कातिब बन गए। अब यह हाल है कि उन्हें काम तलाश करने की ज़रूरत नहीं। दूसरे कातिबों के मुक़ाबले में वे चौगुना उजरत लेते हैं। इसके बावजूद यह हाल है कि उनके यहाँ काम कराने वालों की भीड़ लगी रहती है। उन्हें

काम की तलाश में कहीं जाना नहीं पड़ता। काम ख़ुद उनको तलाश करके उनके घर पहुँच जाता है।

मैंने अपने तजुर्बे में पाया है कि ख़लीक़ टोंकी साहब इंतिहाई मेयारपसंद आदमी हैं। वे जो भी लिखते हैं, उसे आख़िरी हद तक बेहतर बनाने की कोशिश करते हैं। ख़्वाह कोई बड़ा काम हो या छोटा काम। कम पैसे वाला हो या ज़्यादा पैसे वाला। अपने इस ज़ौक़ की वजह से माज़ी में उन्होंने बहुत नुक़सान उठाया है, मगर नुक़सानात की वजह से उन्हें यह मौक़ा मिला कि वे हिंदुस्तान के नंबर एक कातिब बन गए।

17 अगस्त, 1985

किताबें दो क़िस्म की होती हैं— एक वे, जो फ़ख़्र की नफ़्सियात को तस्कीन दें। दूसरी वे, जो नसीहत के जज़्बात को उभारें। मौजूदा ज़माने में मुसलमानों ने बेशुमार किताबें लिखी और छापी हैं, मगर यह किताबें ज़्यादातर पहले ख़ाने में जाती हैं। वे किसी-न-किसी एतबार से मुसलमानों के फ़ख़्र के जज़्बात को तस्कीन देती हैं। उनसे यह फ़ायदा हासिल नहीं होता कि आदमी के अंदर नसीहत की फ़िक्र उभरे, उसके दिल में ख़ुद-एहतेसाबी का जज़्बा बेदार हो।

मौजूदा ज़माने में लिखी जाने वाली किताबों को जब एक मुसलमान पढ़ता है तो कोई किताब उसके ज़हन में सियासी क़सीदा बन जाती है और कोई किताब फ़ज़ाइली क़सीदा। उस क़िस्म की बातें आदमी के अंदर पुर-फ़ख़्र एहतिज़ाज़ तो ज़रूर पैदा करती हैं और बाज़-औक़ात उनके ज़ेर-ए-असर वह बाज़ ज़ाहिरी अमल भी करने लगता है, मगर उसकी कोई गहरी बुनियाद नहीं होती। ऐसे क़साइद उसके दिल को नहीं तड़पाते, वे उसके तर्ज़-ए-फ़िक्र को नहीं बदलते, वे उसकी ज़िंदगी में इंक़लाब पैदा नहीं करते।

19 अगस्त, 1985

कुछ अब्बासी ख़ुलफ़ा, 'मोतज़िली मुतकल्लिमीन' (The Mu'tazalee mutakallimūn) के असर से, क़ुरआन को मख़्लूक़ कहते थे। चुनाँचे जो लोग क़ुरआन को ग़ैर-मख़्लूक़ कहते, उनको इन्होंने सख़्त सज़ाएँ दीं। मसलन— इमाम अहमद बिन हंबल (164-241 हिजरी) वग़ैरह।

उस फ़ित्ने को ख़त्म करने में जिन अस्बाब का दख़ल है, उनमें कुछ लताइफ़ भी शुमार किए जा सकते हैं। यह फ़ित्ना ख़लीफ़ा वासिक़ के ज़माने में ख़त्म हुआ। कहा जाता है कि ख़लीफ़ा वासिक़ अब्बासी के ज़माने में एक ज़रीफ़ शख़्स (comedian) था। वह दरबार में लोगों को हँसाया करता था। एक रोज़ मज़्कूरा ज़रीफ़ दरबार में आया और सलाम के बाद संजीदगी के साथ कहा कि ऐ अमीरुल मोमिनीन, क़ुरआन की मौत पर अल्लाह आपको बड़ा अज्र दे।

ख़लीफ़ा ने हैरान होकर कहा कि तुम्हारा बुरा हो, क़ुरआन पर भी कहीं मौत आती है। ज़रीफ़ ने दोबारा सादगी के साथ जवाब दिया कि ऐ अमीरुल मोमिनीन! हर मख़्लूक़ मरेगी।

उसके बाद ज़रीफ़ ने मज़ीद कहा कि मुझे बड़ी फ़िक्र इस बात की है कि क़ुरआन की मौत पर मुसलमानों की तरावीह का क्या होगा। ख़लीफ़ा वासिक़ इसे सुनकर बे-इख़्तियार हँस पड़ा। उसने कहा कि ठहर, ख़ुदा तुझे हलाक करे। (अल-तबक़ात अल-सनीया फ़ी तराजिमिल हनफ़ीयाह, सफ़्हा 90)

ताहम यह लतीफ़ा ख़लीफ़ा वासिक़ पर बहुत असर-अंदाज़ हुआ। वह साबिक़ ख़ुलफ़ा की तरह इस मामले में ज़्यादा शदीद न था। अब उसका बचा-कुचा जोश भी ख़त्म हो गया और ख़लीफ़ा के ठंडा पड़ने से सारे मुल्क में यह मसअला ख़त्म हो गया। कभी एक लतीफ़े से वह काम हो जाता है, जो दलाइल से न हो सका था।

20 अगस्त, 1985

दुनिया में जो चीज़ सबसे ज़्यादा है, वह है दूसरे के ख़िलाफ़ सोचना और दुनिया में जो चीज़ सबसे कम है, वह है अपने ख़िलाफ़ सोचना। दूसरे के ख़िलाफ़ राय देने के लिए हर आदमी ज़हानत की चोटी पर नज़र आता है। ऐसा मालूम होता है कि उसके पास अल्फ़ाज़ का इतना बड़ा भंडार है, जो कभी ख़त्म न हो।

मगर जब मामला अपने ख़िलाफ़ सोचने का हो तो वही आदमी ऐसा बन जाता है, जैसे कि उसके अंदर किसी बात को समझने की सलाहियत ही नहीं। जो बात अपने ख़िलाफ़ हो, जिसमें ख़ुद अपनी शख़्सियत ज़द में आ रही हो, उसे ख़्वाह कितनी ही ताक़तवर दलाइल के साथ किया जाए, आदमी उसे समझ नहीं पाता और न उसे मानने के लिए तैयार होता है।

21 अगस्त, 1985

चंद आदमियों से उस मौज़ू पर गुफ़्तगू हो रही थी कि दीन की हक़ीक़त क्या है। मैंने कहा कि दीन की असल हक़ीक़त अपने आपको ख़ुदा के आगे सरेंडर करना है। यही दीन का अव्वल भी है और यही दीन का आख़िर भी। अल्लाह ने इंसान को एक ऐसी मख़्लूक़ की हैसियत से पैदा किया है, जिसमें सबसे ज़्यादा ताक़तवर अना (ego) का जज़्बा है। इंसान की अना अपनी नौइयत के एतबार से ख़ुदाई अना की हम-सतह है, मगर दूसरा पहलू यह है कि इंसान को किसी भी क़िस्म का कोई इख़्तियार हासिल नहीं। इंसान, बिला-तशबीह, एक ख़ुदा है, मगर वह एक ऐसा ख़ुदा है, जो ज़ाती इख़्तियार से मुकम्मल तौर पर महरूम हो। उसके तमाम इख़्तियारात ख़ुदा की तरफ़ से अतिया हैं।

यही वह मुक़ाम है, जहाँ आदमी का इम्तिहान हो रहा है। गोया कि ग़ैर-हक़ीक़ी ख़ुदा को हक़ीक़ी ख़ुदा का एतराफ़ करना है। यह बिला शुबहा मुश्किलतरीन काम है, मगर उसी मुश्किलतरीन काम में इंसान की निजात का राज़ छिपा हुआ है। मौजूदा दुनिया में ख़ुदा ख़ुद सामने नहीं आता। इसलिए मज़्कूरा एतराफ़ बराह-ए-रास्त ख़ुदा

के सामने नहीं होता, यह एतराफ़ अमलन एक इंसान के सामने होता है। जब भी कोई इंसान दलील-ए-हक़ के साथ खड़ा हो तो इंसान (या उस दलील-ए-हक़) की हैसियत मुख़ातिबीन के लिए ख़ुदा के नुमाइंदे की हैसियत हो जाती है। उस वक़्त जो शख़्स झुक गया, वह ख़ुदा के सामने झुका। उस वक़्त जो शख़्स नहीं झुका, उसने ख़ुदा के सामने झुकने से इनकार किया।

22 अगस्त, 1985

अरबी की एक कहावत है— "जब मैंने एक बात कह दी तो वह मेरे ऊपर इख़्तियार हासिल कर लेती है और अगर मैं बात न कहूँ तो मैं उसके ऊपर इख़्तियार रखता हूँ।" (अल-दुर्र-अल-फ़रीद लिलमुस्तासमी, जिल्द 6, सफ़्हा 65)

शेख़ सादी ने यही बात किस क़द्र मुख़्तलिफ़ अंदाज़ में इस तरह कही है—

ता मर्द सुख़न न गुफ़्ता बाशद ,ऐब-ओ-हुनरश न हुफ़्ता बाशद
आदमी जब तक बात न कहे तो उसका ऐब-ओ-हुनर छुपा रहता है।

इसी बात को अंग्रेज़ी में किसी ने इस तरह कहा है कि हम अपने न कहे हुए अल्फ़ाज़ के आक़ा हैं और हम उन अल्फ़ाज़ के ग़ुलाम हैं, जो हम अपनी ज़बान से कह दें।

We are masters of our unsaid words and slaves to those we let slip out.

मुख़्तलिफ़ ज़बानों में इस तरह के मिलते-जुलते मुहावरे इस बात का एक मुज़ाहरा हैं कि तमाम इंसान हक़ीक़तन एक ढंग पर सोचते हैं। तमाम हक़ीक़तें असीम (universal) हक़ीक़तें हैं। फ़ितरत की सतह पर सबका अंदाज़-ए-फ़िक्र एक है। फ़र्क़ सिर्फ़ यह है कि कोई शख़्स उसे एक ज़बान में बयान करता है और कोई शख़्स दूसरी ज़बान में।

23 अगस्त, 1985

हज़रत उमर बिन अब्दुल अज़ीज़ की एक दुआ अरबी माहनामा अल-अरबी में पढ़ी। उस दुआ का तर्जुमा इस तरह है— "ख़ुदाया, मैंने तेरी सबसे ज़्यादा महबूब चीज़ में तेरी इताअत की है और वह तौहीद है और तेरी सबसे ज़्यादा नापसंदीदा चीज़ में तेरी ना-फ़रमानी नहीं की और वह कुफ़्र है। पस इन दोनों के दरम्यान जो कुछ है, उसमें तू मुझे बख़्श दे।" (अल-अख़बार अल-मुवाफ़क़िय्यात लिल-ज़ुबै बिन बक्कार, सफ़्हा 198)

24 अगस्त, 1985

'इक़बाल की नज़री-व-अमली शेरियत' एक मुख़्तसर किताब है, जिसके मुसन्निफ़ प्रोफ़ेसर मसऊद हुसैन ख़ाँ (पैदाइश : 1919) हैं। उन्होंने यह किताब श्रीनगर, कश्मीर में अपने क़याम के दौरान लिखी है और मकतबा जामिआ (नई दिल्ली) ने उसे शाया किया है। किताब के आग़ाज़ में एक दीबाचा 'हर्फ़-ए-चंद' के टाइटल से है। उसमें प्रोफ़ेसर साहब लिखते हैं—

"डल झील के किनारे नसीम बाग़ के चिनारों के साये तले मुझे ख़ुदा नहीं तो कम-से-कम इक़बाल को बे-नक़ाब देखने का मौक़ा मिला।"

यह बात जो एक अदीब ने बे-तकल्लुफ़ लिख दी, यही हमारे उलेमा तक का हाल है। क़ुदरत की निशानियाँ चारों तरफ़ फैली हुई हैं, जो इसलिए हैं, ताकि उनको देखकर ख़ुदा के बंदे ख़ुदा को पाएँ, मगर निशानियों के हुजूम में भी किसी को ख़ुदा दिखाई नहीं देता। अलबत्ता 'इक़बाल' को हर शख़्स देख लेता है। ख़ुदा की ज़ात किसी को नज़र नहीं आती, मगर इंसानी शख़्सियतें लोगों को ख़ूब नज़र आती हैं।

यही वजह है कि आज हर मजलिस और हर इज्तिमे में इंसानी शख़्सियतों के चर्चे हैं, मगर उस मजलिस और उस इज्तिमे से ख़ुदा की ज़मीन ख़ाली है, जहाँ वाक़ई मायनों में ख़ुदा की याद की जाए। जहाँ लोग इसी तरह ख़ुदा के कमालात से सरशार

होकर ख़ुदा का तज़्किरा करें, जिस तरह वे इंसानों के कमालात से सरशार होकर उनका तज़्किरा करते हैं।

26 अगस्त, 1985

बहुत से लोगों से मैंने पूछा कि आपकी ज़िंदगी की ख़ास दरयाफ़्त क्या है? यह सवाल मैंने ज़्यादातर उन लोगों से पूछे, जो साहिब-ए-इल्म थे और जिन्होंने ज़िंदगी का लंबा तजुर्बा उठाया था, मगर अजीब बात है कि अक्सर लोगों ने मेरे सवाल का जवाब इस अंदाज़ में दिया, जैसे कि उनकी कोई दरयाफ़्त ही न हो, जैसे कि उन्होंने अपनी ज़िंदगी में कोई नई चीज़ पाई ही न हो।

इसका सबब क्या है? ऐसा मालूम होता है कि बेशतर लोग रिवायती तरीक़े में जीते हैं। जो कुछ दूसरे लोग कर रहे हैं, वही वे भी करने लगते हैं और अगर कोई शख़्स दूसरे के मुक़ाबले में अपना रास्ता बदलता है तो महज़ ज़ाहिरी और जुज़ई मायनों में। ऐसी हालत में लोगों को कोई नई दरयाफ़्त क्योंकर हो सकती है।

27 अगस्त, 1985

इस्लामी इस्तिलाह में हिजरत की दो किस्में हैं— एक, दाख़िली हिजरत और दूसरी, ख़ारिजी हिजरत। दाख़िली हिजरत बड़ी हिजरत है और ख़ारिजी हिजरत छोटी हिजरत है।

दाख़िली हिजरत को मुख़्तलिफ़ अहादीस-ए-रसूल से समझा जा सकता है। रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया कि मुहाजिर वह है, जो उसे छोड़ दे जिसे ख़ुदा ने मना किया है (सही अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 6484)। एक और हदीस में है कि आपसे एक बार पूछा गया— "सबसे अफ़ज़ल हिजरत कौन-सी है?" आपने जवाब दिया— "यह कि तुम उस चीज़ को छोड़ दो, जो अल्लाह को नापसंद है।" (मुसनद अहमद, हदीस नंबर 19,435)

यही मामला जिहाद का भी है। दाख़िली हिजरत और दाख़िली जिहाद को एक हदीस-ए-रसूल में इस तरह बयान किया गया है— "मुहाजिर वह है, जो ग़लतियों और गुनाहों को तर्क कर दे और मुजाहिद वह है, जो अल्लाह की फ़रमाबरदारी में अपने नफ़्स से लड़े।" (मुसनद अहमद, हदीस नंबर 23,967)

रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम मुख़्तलिफ़ मौक़ों पर दाख़िली जिहाद की तरग़ीब देते रहते थे। उनमें से बाज़ रिवायात दर्ज-ए-ज़ेल हैं—

मुजाहिद वह है, जो अपने नफ़्स से जिहाद करे।
(अल-तिरमिज़ी, हदीस नंबर 1,621)

मुजाहिद वह है, जो अल्लाह के लिए अपने नफ़्स से जिहाद करे।
(मुसनद अहमद, हदीस नंबर 23,951)

रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ग़ज़वा-ए-तबूक से वापस आए। यह एक मुहिम थी, जिसमें कोई जंग पेश नहीं आई। वापसी के बाद आपने फ़रमाया कि हम छोटे जिहाद से बड़े जिहाद की तरफ़ वापस आए हैं। आपने इस तरह कहा— "तुम लोग छोटे जिहाद से बड़े जिहाद की तरफ़ वापस आए हो।" लोगों ने कहा— "बड़ा जिहाद क्या है, ऐ ख़ुदा के रसूल?" आपने कहा— "बंदे का अपने नफ़्स से जिहाद करना।" (तारीख़-ए- बग़दाद, ख़तीब बग़दादी, जिल्द 13, सफ़्हा 498)

मौजूदा ज़माने के मुसलमानों को देखिए तो मालूम होगा कि हर आदमी 'छोटी हिजरत' और 'छोटे जिहाद' को जानने का माहिर बना हुआ है, मगर 'बड़ी हिजरत' और 'बड़े जिहाद' की किसी को ख़बर नहीं।

28 अगस्त, 1985

साइंस की तारीख़ में अक्सर बड़ी दरयाफ़्तें इत्तिफ़ाक़ (chance) के ज़रिये पेश आई हैं। चुनाँचे साइंसदानों ने उसके लिए एक ख़ास लफ़्ज़ इस्तेमाल किया है, जिसे सरेंडीपिटी (serendipity) कहा जाता है। यह लफ़्ज़ 'सरनदीप' की एक कहानी से लिया गया है। बहुत से लोग साइंसी दरयाफ़्तों को ख़ुशगवार वाक़यात

(happy accidents) कहते हैं। मिसाल के तौर पर, एक्सरे (X-rays) की दरयाफ़्त इत्तिफ़ाक़ी तौर पर हुई।

ताहम यह कहना सही न होगा कि इत्तिफ़ाक़ बज़ात-ए-ख़ुद दरयाफ़्त तक पहुँचाता है। हिंदुस्तानी साइंसदान सी०वी० रमन (1888-1970) ने सही कहा है कि ऐसा इत्तिफ़ाक़ सिर्फ़ साइंसदान को पेश आता है यानी एक शख़्स, जो बातों को जानता हो और वह तहक़ीक़ में लगा हुआ हो, वही ब-वक़्त-ए-इत्तिफ़ाक़ किसी बात को पकड़ सकता है। इसी बात को लूई पॉस्चर (1822-1895) ने इन अल्फ़ाज़ में कहा था कि मुशाहिदात के मैदान में इत्तिफ़ाक़ सिर्फ़ तैयार ज़हन के लिए कार-आमद होता है।

In the field of observation, chance favours only the prepared mind.

एक्सरे का मूजिद रौंगटन (1845-1923) क़रार पाया, हालाँकि उससे पहले यह विलियम क्रोक्स (1823-1919) के मुशाहिदे में आई थी, मगर उसने उसे बेमानी (nonsense) क़रार देकर नज़रअंदाज़ कर दिया वग़ैरह।

नई चीज़ दरयाफ़्त करने के लिए सबसे अहम दो चीज़ें हैं— एक, उत्सुक्ता (curiosity), दूसरी यह कि आदमी वह ज़रूरी मालूमात रखता हो, जिसके बाद वह एक चीज़ को दूसरी चीज़ से वाबस्ता (link) कर सके।

29 अगस्त, 1985

अंग्रेज़ शायर और ड्रामानिगार टॉमस शैडवेल (1642-1692) का क़ौल है कि बेवक़ूफ़ की जल्दबाज़ी दुनिया में सबसे ज़्यादा सुस्त रफ़्तार चीज़ है।

The haste of a fool is the slowest thing in the world.

31 अगस्त, 1985

आजकल के लोगों के हालात को देखिए तो ऐसा मालूम होता है कि कोई नहीं, जो यह सोचकर लिखे या बोले कि रज़ा-ए-ख़ुदावंदी क्या है। हर एक बस यह सोचकर लिखता है और बोलता है कि रज़ा-ए-क़ौम क्या है, रज़ा-ए-मफ़ाद क्या है, रज़ा-ए-मस्लिहत क्या है वग़ैरह।

31 अगस्त, 1985

एक मुफ़क्किर का क़ौल नज़र से गुज़रा कि जहाँ तलवार चलती है, वहाँ से हल ग़ायब हो जाते हैं।

यह निहायत दुरुस्त बात है और पूरी तारीख़ इस हक़ीक़त की तस्दीक़ करती है। जंग और तामीर दोनों काम साथ-साथ नहीं हो सकते। सच्चे लीडर की पहचान यह है कि वह जंग और टकराव से आख़िरी हद तक एराज़ करे, ताकि उसका 'लोहा' तलवार बनने में ज़ाया न हो, बल्कि वह 'हल' बनाने के काम में आ सके।

2 सितंबर, 1985

एक साहब एक मुस्लिम लीडर की अज़्मत के बहुत ज़्यादा क़ायल थे। उन्होंने लीडर के बारे में तक़रीर करते हुए पुरजोश तौर पर कहा कि वे सौ बार ग़लती कर सकते थे, मगर वे एक-बार भी किसी के हाथ बिक नहीं सकते थे। मैंने कहा कि सौ बार ग़लती करना ख़ुद भी बिकने ही की एक सूरत है। यह ख़ुद अपने हाथ बिकना है, यह अपने नफ़्स के हाथ बिकना होना है।

जब भी आदमी कोई ग़लत बात कहता है या कोई ग़लत क़दम उठाता है तो बहुत जल्द मुख़्तलिफ़ तरीक़ों से उसकी ग़लती उस पर ज़ाहिर हो जाती है। अगर आदमी अपने नफ़्स के हाथ बिका हुआ न हो तो वह अपनी ग़लती का ऐलानिया एतराफ़ करेगा, हत्ता कि अगर वह लीडर होते हुए बार-बार ग़लती किए चला जा

रहा है तो वह ऐलान कर देगा— “मैं रहनुमाई करने के क़ाबिल नहीं हूँ। मेरी फ़हम-ओ-बसीरत उससे कम है कि मैं क़ौम की रहनुमाई कर सकूँ। इसलिए मैं क़यादत के काम को छोड़ रहा हूँ।”

कोई शख़्स ग़लती पर ग़लती करे और फिर भी क़यादत के मैदान से वापस न हो तो यह खुले तौर पर इस बात का सबूत है कि उसके ऊपर उसका नफ़्स छाया हुआ है। साख़ और इज़्ज़त-ए-नफ़्स का सवाल उसे ऐलानिया तौर पर अपनी क़यादती न-अहली का एतराफ़ करने से रोके हुए है, उससे ज़्यादा बिका हुआ इंसान और कौन हो सकता है, जो पुरजोश अल्फ़ाज़ और हक़ीक़त-ए-वाक़या में फ़र्क़ न कर सके।

3 सितंबर, 1985

ग़ज़वा-ए-ताइफ़ (8 हिजरी) की रिवायात में से एक रिवायत इस तरह आई है— रसूलुल्लाह एक रास्ते पर चले, जो तंग कहा जाता था। जब आप उस रास्ते पर आए तो आपने उस रास्ते के बारे में पूछा। आपने कहा कि उस रास्ते का नाम क्या है? कहा गया— “तंग” (अल-ज़ाय्येअक़ा)। आपने फ़रमाया— “नहीं, बल्कि आसान (अल-युसरा) है।” (सीरत इब्न-ए-हिशाम, जिल्द 2, सफ़्हा 482)

इससे मालूम हुआ कि मोमिन का मिज़ाज मुस्बत मिज़ाज होना चाहिए। मोमिन अँधेरे में रोशनी को देखता है, वह डिस-एडवांटेज में एडवांटेज को दरयाफ़्त करता है। वह मुश्किल को आसानी के रूप में ढाल देता है। जिस चीज़ को आम लोग तंग कहते हैं, वह मोमिन के ज़हन में आकर आसान हो जाती है। ग़ालिबन यही वह चीज़ है, जिसे टायनबी ने ‘बरतर हल’ (superior solution) के लफ़्ज़ से ताबीर किया है।

4 सितंबर, 1985

अबू सईद ख़ुदरी नक़ल करते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने कहा— “जो शख़्स इंसानों का शुक्र अदा नहीं करता, वह ख़ुदा का शुक्र भी अदा नहीं कर सकता।” (जामे अल-तिरमिज़ी, हदीस नंबर 1,955)

एहसान किए जाने पर एहसानमंद होना और मुहसिन का शुक्र अदा करना एक मिज़ाज और क़ल्बी कैफ़ीयत की बात है। एक शख़्स के अंदर यह मिज़ाज हक़ीक़ी मायनों में पैदा हो जाएगा तो वह दोनों मामलों में शुक्र अदा करने लगेगा। जो शख़्स बंदों के सुलूक पर उनका शुक्रगुज़ार हो, वह ख़ुदा की नेअमतों पर भी ज़रूर उसका शुक्रगुज़ार होगा। इसी तरह जब एक शख़्स ख़ुदा की नेअमतों का हक़ीक़ी मायनों में शुक्रगुज़ार हो जाएगा तो बंदों के सुलूक पर भी वह उनका शुक्र अदा किए बग़ैर नहीं रह सकता।

5 सितंबर, 1985

इब्ने-उमर कहते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने कहा— “कोई शख़्स तुम्हारे ऊपर एहसान करे तो उसका बदला दो और अगर तुम्हारे पास बदला पूरा करने वाली कोई चीज़ न हो तो मुहसिन के लिए दुआ करो और उस वक़्त तक दुआ करते रहो, जब तक तुम्हें ख़्याल हो कि तुमने बदला पूरा कर दिया।” (सुनन अबू दाऊद, हदीस नंबर 1,672)

बेहतरीन इंसान वह है, जो दूसरों को दे। अगर उसके पास कोई माद्दी चीज़ देने के लिए नहीं है तो वह उसके हक़ में दुआ-ए-ख़ैर का हदिया पेश करे। इस्लाम यह चाहता है कि समाज में लोग एक-दूसरे के ख़ैर-ख़्वाह हों और अगर लोगों के अंदर एक-दूसरे के लिए दुआ करने का मिज़ाज पैदा हो जाएगा तो ऐसे समाज में यक़ीनन ख़ैर-ख़्वाही का जज़्बा परवरिश पाएगा, क्योंकि किसी के हक़ में सच्ची दुआ उसके बग़ैर नहीं निकल सकती कि उसके लिए दुआ-गो के दिल में सच्ची ख़ैर-ख़्वाही की कैफ़ीयत मौजूद हो।

6 सितंबर, 1985

डॉन प्याट (1819-1891) का क़ौल है कि बड़ा आदमी वह है, जो अपने काम की अंजामदेही के लिए दूसरों का दिमाग़ इस्तेमाल कर सके।

That man is great who can use the brain of others to carry out his work.

ख़ुद करना आसान है, मगर दूसरों से करवाना बहुत मुश्किल है, मगर सिर्फ़ अपने बल पर आदमी कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। बड़ा काम करने के लिए ज़रूरी होता है कि बहुत से दिमाग़ों को उसमें मसरूफ़ किया जाए, मगर बहुत से दिमाग़ों को किसी एक काम में मसरूफ़ करने के लिए ज़बरदस्त हिक्मत और ज़हानत दरकार है। जो आदमी उस हिक्मत और ज़हानत का सबूत दे सके, यक़ीनन वह इस क़ाबिल है कि उसे बड़ा आदमी कहा जाए।

7 सितंबर, 1985

मेंढक अगर हाथी को निगलना चाहे तो हाथी का कुछ नहीं बिगड़ेगा, अलबत्ता मेंढक का पेट फट जाएगा

9 सितंबर, 1985

रिचर्ड कुशिंग (1895-1970) का क़ौल है कि मज़हबी शख़्सियतों के साथ जन्नत में रहना बहुत अज़ीम है, मगर उनके साथ दुनिया में रहना एक मुसीबत है।

It is great to live with saints in heaven, but it is hell to live with them on earth.

यह दरअसल मज़हबी शख़्सियतों पर तंज़ है। मज़हबी लोग वाज़ करते हैं कि हमारे बताए हुए रास्ते पर चलो तो तुम्हें मौत के बाद की ज़िंदगी में जन्नत मिलेगी, मगर ख़ुद उन मज़हबी शख़्सियतों का किरदार अक्सर निहायत बुरा होता है। गोया

कि दुनिया में उनके साथ रहना जहन्नुम में रहना है। जबकि उनके क़ौल के मुताबिक़ उनके तरीक़े पर चलना अगली ज़िंदगी में जन्नत में दाख़िल होना है। मज़हबी शख़्सियतों के क़ौल-ओ-अमल का यह तज़ाद अक्सर मज़ाहिब में पाया जाता है।

10 सितंबर, 1985

अंग्रेज़ राइटर बर्नार्ड शॉ (1856-1950) ने कहा कि एक बे-सलाहियत आदमी के लिए मशहूर होने का वाहिद तरीक़ा यह है कि वह शहीद हो जाए।

Martyrdom is the only way in which a man can become famous without ability.

यह क़ौल ख़ास तौर पर मौजूदा प्रैस के दौर में निहायत दुरुस्त है। आज कोई क़ौम या शख़्स मज़हब के नाम पर एक अहमक़ाना क़दम उठाता है। उसके बाद फ़ौरन उसका नाम छपना शुरू हो जाता है। वह तेज़ी से शोहरत हासिल कर लेता है। अहमक़ाना क़दम उठाकर शहीद होना क़ौम को तो कुछ नहीं देता, अलबत्ता वह शख़्स फ़ौरन शोहरत का मुक़ाम पा लेता है।

मौजूदा ज़माने में इस क़िस्म की शोहरत हासिल करने वालों की तादाद शायद सबसे ज़्यादा मुसलमानों में है। मौजूदा ज़माने में लाखों मुसलमान हैं, जिन्होंने क़ौम या मज़हब के नाम पर शहीद होकर ग़ैर-मामूली शोहरत पाई। हालाँकि उनकी शहादत से न मज़हब को कुछ मिला और न क़ौम को।

दानिशमंद की शहादत क़ौम के लिए तरक़्क़ी का ज़ीना है। नादान की शहादत सिर्फ़ शहीद के लिए ज़ाती शोहरत का ज़रिया।

11 सितंबर, 1985

इंसान के लिए सबसे ज़्यादा अहम चीज़ दरयाफ्त है। दरयाफ़्त ही से दुनिया की तरक़्क़ियाँ भी मिलती हैं और दरयाफ़्त ही से आख़िरत की तरक़्क़ियाँ भी।

क़ुरआन का मत्लूब इंसान वह है, जो ग़ैब पर ईमान लाए। इस सिलसिले में क़ुरआन के मुताल्लिक़ अल्फ़ाज़ इस तरह हैं— 'अल्लज़ीना युमिनूना बिल ग़ैब' (2:3) यानी वह लोग, जो ग़ैब पर ईमान लाते हैं। ग़ैब पर ईमान लाना क्या है? यह दूसरे लफ़्ज़ों में न मालूम को मालूम बनाना है यानी वही चीज़, जिसे मौजूदा ज़माने में दरयाफ़्त (discovery) कहा जाता है।

दुनियावी तरक़्क़ी के राज़ों को ख़ुदा ने ज़मीन-ओ-आसमान के अंदर छुपा दिया है। उन राज़ों को क़वानीन-ए-फ़ितरत (laws of nature) कहा जाता है। साइंस में इन्हीं राज़ों (क़वानीन-ए-फ़ितरत) को दरयाफ़्त किया जाता है। जो क़ौम उन राज़ों को दरयाफ़्त करे, वह दूसरों से आगे बढ़ जाती है। जबकि मौजूदा ज़माने में हम मग़रिबी अक़्वाम को या एशिया में जापान की सूरत में देख रहे हैं। तरक़्क़ीयाफ़्ता क़ौमों (developed countries) को तमाम तरक़्क़ियाँ उनकी इन्हीं दरयाफ़्तों की बुनियाद पर हासिल हुई हैं।

इसी तरह आलम-ए-आख़िरत को अल्लाह ने इंसान की नज़रों से पोशीदा कर दिया है। अब इंसान को उसे दरयाफ़्त करना है। जो चीज़ ग़ैब (अनदेखी) में है, उसे शुहूद (देखी के मानिंद) में लाना है। इसी दरयाफ़्त (discovery) का नाम ईमान है। जो शख़्स इस ईमान में जितना ज़्यादा आगे होगा, वह आख़िरत में उतनी ही ज़्यादा तरक़्क़ी और कामयाबी हासिल करेगा।

12 सितंबर, 1985

एक मस्नून दुआ हदीस की किताबों में इस तरह आई है— "जो शख़्स कोई चीज़ खाए और कहे कि शुक्र और तारीफ़ उस अल्लाह के लिए है, जिसने मुझे यह खिलाया और मेरी किसी कोशिश या ताक़त के बग़ैर मुझे रोज़ी अता की तो उसके तमाम पिछले गुनाह माफ़ कर दिए जाएँगे।" (जामे अल-तिरमिज़ी, हदीस नंबर 3,458)

यह दुआ महज़ खाने वाले के अल्फ़ाज़ को नहीं बताती, बल्कि दरअसल उस एहसास को बताती है जिसके तहत एक मोमिन ख़ुदा के रिज़्क़ को खाता है। वह

चीज़ जिसे खाना कहा जाता है, वह एक अज़ीम ख़ुदाई तख़्लीक़ है। वह बराह-ए-रास्त ख़ुदा की क़ुदरत से वजूद में आता है। जो शख़्स उस हक़ीक़त को पा ले, उसका एहसास इन अल्फ़ाज़ में ढल जाएगा, जो मज़्कूरा हदीस में बयान होते हैं और जिसका एहसास इन अल्फ़ाज़ में ढल जाए, वह यक़ीनन इतना बड़ा अमल करता है कि अजब नहीं कि अल्लाह उसके तमाम पिछले गुनाहों को माफ़ कर दे।

13 सितंबर, 1985

मैंने अपने तजुर्बे में पाया है कि बेशतर लोग मायूसी का शिकार रहते हैं। वे मायूसी के एहसास में जीते हैं और मायूसी में मर जाते हैं। इस परेशानी का बुनियादी सबब क्या है? वह सबब यही है कि बेशतर लोग अपनी ज़िंदगी के लिए सही नुक़्ता-ए-आग़ाज़ (starting point) नहीं पाते और जब आप सही नुक़्ता-ए-आग़ाज़ को न पाएँ तो आपकी तमाम सरगर्मियाँ आपके मत्लूब के एतबार से बे-नतीजा होकर रह जाएँगी।

इस दुनिया में क़ानून-ए-फ़ितरत के मुताबिक़, किसी इंसान के लिए जो चीज़ क़ाबिल-ए-अमल है, वह सिर्फ़ यह है कि वह मुमकिन और नामुमकिन के दरम्यान फ़र्क़ करे और फिर अपन मंसूबा बनाए यानी आइडीयल को छोड़कर प्रैक्टिकल विज़डम को इख़्तियार करना। आदमी के लिए यही दुरुस्त नुक़्ता-ए-आग़ाज़ है।

14 सितंबर, 1985

अपने बस में सिर्फ़ बर्दाश्त है। इसके सिवा जो कुछ है, सिर्फ़ दूसरों के बस में है। ऐसी हालत में आदमी के लिए एक ही मुमकिन तरीक़-ए-कार है। वह अपने बस वाले मुक़ाम से आग़ाज़ करे। अगर उसने वहाँ से आग़ाज़ करना चाहा, जो दूसरे के बस में है तो वह कभी कामयाब नहीं हो सकता, क्योंकि उसने हक़ीक़तन आग़ाज़ ही नहीं किया और जो शख़्स आग़ाज़ न करे, वह मंज़िल को किस तरह पहुँचे?

15 सितंबर, 1985

नई दिल्ली के अंग्रेज़ी अख़बार 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' (15 सितंबर, 1985) ने हिंदुस्तान के मआशी और सियासी हालात पर एक मज़्मून शाया किया है। इसका उनवान है—

Ours is a Story of Missed Opportunities

हमारी कहानी खोए हुए मौक़ों की कहानी है

यह बात मुल्क से ज़्यादा मुसलमानों पर सादिक़ आती है। मुसलमानों ने मौजूदा ज़माने में सबसे बड़ी नादानी यह की है कि उन्होंने मौक़ों और इमकानात को नहीं पहचाना। वे इंतिहाई क़ीमती मौक़ों को इंतिहाई बेदर्दी के साथ ज़ाया करते रहे। इसका नतीजा इनकी वह नाकामी है, जिससे आज वे दो-चार हैं।

16 सितंबर, 1985

इस दुनिया का क़ानून यह है कि यहाँ देने वाला पाता है। अगर आपके पास दूसरों को देने के लिए कुछ न हो तो आप भी दूसरों से कुछ नहीं ले सकते।

दूसरों के लिए नफ़ाबख़्श बनिए और अगर आप नफ़ाबख़्श नहीं बन सकते तो दूसरों को अपने शर्र से बचाइए। दूसरों को अपने शर्र से बचाना भी उन्हें कुछ देना है। अगर आप दूसरों को नहीं दे सकते तो दूसरों से छीनने की भी कोशिश न कीजिए।

18 सितंबर, 1985

जुलाई, 1402 में अंगोरा (Angora) के मैदान में दो मुस्लिम बादशाहों की लड़ाई हुई। एक तरफ़ तैमूरी सल्तनत का बानी सुल्तान तैमूर (1336-1405 ई०) था, दूसरी तरफ़ उस्मानी सुल्तान बायज़ीद अव्वल (1360-1403 ई०)। यह एक निहायत ख़ौफ़नाक जंग थी। उसमें तैमूर की फ़ौज के एक लाख आदमी क़त्ल हुए

और बायज़ीद की फ़ौज के सिर्फ़ पचास हज़ार आदमी मारे गए। इसके बावजूद शिकस्त सुल्तान बायज़ीद के हिस्सा में आई।

इसकी वजह क्या थी? इसकी सादा वजह यह थी कि सुल्तान तैमूर की फ़ौज में पाँच लाख सिपाही थे, जबकि सुल्तान बायज़ीद की फ़ौज में सिर्फ़ एक लाख सिपाही थे। इस तरह सुल्तान तैमूर की फ़ौज के एक लाख आदमी क़त्ल होने के बाद भी उसमें चार लाख आदमी बाक़ी थे और सुल्तान बायज़ीद की फ़ौज में सिर्फ़ एक लाख आदमी थे। चुनाँचे पचास हज़ार आदमियों के क़त्ल हो जाने के बाद उसमें सिर्फ़ पचास हज़ार आदमी बाक़ी रह गए।

सुल्तान बायज़ीद बेहद बहादुर आदमी था, मगर कैफ़ीयत (quality) की ज़्यादती कमिय्यत (quantity) की कमी को एक हद तक ही पूरा कर सकती है। अगर दोनों पार्टी के दरम्यान कमिय्यत के एतबार से ग़ैर-मामूली फ़र्क़ पैदा हो जाए तो कैफ़ीयत की ज़्यादती कमिय्यत की कमी की भरपाई के लिए काफ़ी नहीं हो सकती।

19 सितंबर, 1985

मौजूदा ज़माने के माहिरीन ने अंदाज़ा लगाया है कि इंसान के दिमाग़ में जो पार्टिकल्स हैं, वह पूरी कायनात के मजमूई पार्टिकल्स से भी ज़्यादा हैं। इंसानी दिमाग़ की सलाहियत बेपनाह है, मगर कोई बड़े से बड़ा इंसान भी अब तक अपने दिमाग़ को दस फ़ीसद से ज़्यादा इस्तेमाल न कर सका।

हक़ीक़त यह है कि आदमी एक इमकान (potential) है, मगर मौजूदा दुनिया अपनी महदूदियतों (limitations) के साथ उस इमकान के ज़हूर के लिए नाकाफ़ी है। इंसानी इमकान के ज़हूर में आने के लिए एक ला-महदूद और वसीअतर दुनिया है जन्नत की दुनिया, एक एतबार से, इसीलिए बनाई गई है कि वहाँ आदमी के इमकानात पूरी तरह ज़हूर में आ सकें।

20 सितंबर, 1985

अनातुल फ़्रांस (1844-1924) का क़ौल है कि यह आदमी की फ़ितरत है कि वह दानिशमंदाना तौर पर सोचता है, मगर बेवक़ूफ़ी के साथ अमल करता है।

It is human nature to think wisely and act foolishly.

यह बात बज़ात-ए-ख़ुद सही है, मगर इसकी वजह इंसानी फ़ितरत नहीं, बल्कि इंसानी आदत है। इंसान अपनी फ़ितरत के एतबार से यह सलाहियत रखता है कि वह मामलों में दानिशमंदाना तौर पर सोच सके, मगर अमल करते वक़्त वह बेवक़ूफ़ बन जाता है, क्योंकि वह सोच के वक़्त तो ग़ैर-जानिबदार (un-biased) रहता है, मगर अमल के वक़्त अपनी ग़ैर-जानिबदारी को बाक़ी नहीं रख पाता। सही अमल अक्सर अपनी ज़ात की नफ़ी पर होता है। आदमी अपनी ज़ात की नफ़ी पर राज़ी नहीं होता, इसलिए वह सही अमल भी नहीं कर पाता।

21 सितंबर, 1985

इज्तिमाई ज़िंदगी में वह इंसान बहुत क़ीमती होता है, जो बिला शर्त किसी मिशन का साथ दे, जो साथ देने के बाद मसाइल का जंगल खड़ा न करे। सहाबा किराम ने तारीख़ का सबसे बड़ा इंक़लाब बरपा किया। उनकी तहरीकी सिफ़ात को अगर एक लफ़्ज़ में बताना हो तो कहा जा सकता है कि वे बे-मसअला लोग (no-problem person) थे। वे इख़्तिलाफ़ को भूलकर मिशन से वाबस्ता रहते थे। वे ज़ाती शिकायत को नज़रअंदाज़ करके लीडर के हुक्म की पाबंदी करते थे। वे इन्फ़िरादी एहसासात को कुचलकर इज्तिमाई तक़ाज़ों को पूरा करने के लिए तैयार रहते थे। हक़ीक़त यह है कि जो लोग बे-मसअला इंसान हों, वही दुनिया का मसअला हल करते हैं। जो लोग ख़ुद मसाइल में मुब्तला हो जाएँ, वे सिर्फ़ दुनिया के मसाइल में इज़ाफ़ा करते हैं, वे किसी भी दर्जे में दुनिया के मसाइल को कम नहीं करते।

23 सितंबर, 1985

शहर की तामीरात और इंसानी तरक़्क़ी को देखकर मेरी ज़बान से निकला— "इंसान के बग़ैर यह तरक़्क़ी नहीं, इसी तरह ख़ुदा के बग़ैर यह कायनात नहीं।"

24 सितंबर, 1985

नादिरशाह अफ़्शार (1688-1747) ईरान का बादशाह था। वह 1736 से 1747 तक ईरान का बादशाह रहा। एक मर्तबा उसे यह शुबहा हुआ कि उसका लड़का यह साज़िश कर रहा है कि वह बाप को हटाकर ख़ुद तख़्त पर बैठ जाए। नादिरशाह ने अपने जवान लड़के को गिरफ़्तार किया और उसकी आँखें निकालकर उसे अंधा कर दिया, मगर नादिरशाह की यह बेरहमी उसे इक़्तिदार पर बाक़ी रखने में मुआविन न हो सकी। जल्द ही उसकी फ़ौज में उसके मुख़ालिफ़ीन पैदा हो गए और नादिरशाह ख़ुद अपने फ़ौजियों के हाथों क़त्ल कर दिया गया।

इस तरह के बेशुमार वाक़यात तारीख़ में मौजूद हैं, मगर कोई उनसे सबक़ नहीं लेता। हर आदमी अपने दायरे में दोबारा वही करता है, जो नादिरशाह ने अपने दायरे में किया था।

25 सितंबर, 1985

एक साहब ने अल-रिसाला के मिशन से पूरा इत्तिफ़ाक़ किया। मैंने कहा कि जब आपको अल-रिसाला से इत्तिफ़ाक़ है तो उसकी एजेंसी लेकर उसे फैलाइए। उन्होंने कहा कि अभी तो मैं सिर्फ़ ख़ुद पढ़ता हूँ। आइंदा ऐसा भी करूँगा कि एजेंसी लेकर उसे दूसरों तक पहुँचाऊँ।

मैंने कहा कि करने का काम आज किया जाता है, कल नहीं किया जाता। जिस शख़्स ने मामले को 'कल' के ख़ाने में डाला, उसने मामले को 'नहीं' के ख़ाने में डाल दिया।

26 सितंबर, 1985

अब्दुल्लाह बिन अब्बास से रिवायत है कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने कहा— “दो नेअमतें हैं जिनमें इंसानों में से बहुत से लोग धोखा खाते हैं : तंदरुस्ती और फ़ुर्सत।” (सही अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 6,412)

यानी आदमी एक काम को करने का काम समझता है, मगर वह सोचता रहता है कि जब तंदरुस्ती होगी तो कर लूँगा या जब फ़ुर्सत होगी, तब कर लूँगा। हालाँकि यह ज़बरदस्त भूल है। जो आदमी उज़्र के फ़रेब में रहे, वह कभी कोई काम नहीं कर सकता। सही तरीक़ा यह है कि उज़्र को नज़रअंदाज़ करके काम किया जाए।

एक अंग्रेज़ी कहावत इस हदीस की बेहतरीन तशरीह है। वह कहावत यह है कि अगर तुम्हारे पास एक अच्छा उज़्र है, तब भी उसे इस्तेमाल न करो।

If you have a good excuse, don't use it.

27 सितंबर, 1985

मुझे ऐसा मालूम होता है कि हज़रत मूसा के ज़माने में बनी-इसराईल का जो हाल था, वही हाल इस वक़्त मुसलमानों का है। मुसलमान अब एक मुर्दा क़ौम बन चुके हैं, वे किसी गहरे तामीरी काम का हामिल बनने की ताक़त नहीं रखते।

बनी-इसराईल का यही हाल हो गया था। चुनाँचे हज़रत मूसा उन्हें सहरा-ए-सीना में ले गए। जब उनकी इब्तिदाई नस्ल ख़त्म हो गई और नई नस्ल सहरा के माहौल में परवरिश पाकर तैयार हुई तो उसी ने दोबारा काम किया। मुझे ऐसा महसूस होता है कि मौजूदा ज़माने में हिंदुस्तान मुसलमानों का ‘सहरा-ए-सीना’ है। हिंदुस्तान वह मुक़ाम है, जहाँ वह अमल जारी है, जो बनी-इसराईल के साथ सहरा-ए-सीना में अंजाम पाया था। उस बिना पर मुझे सिर्फ़ हिंदुस्तान से यह उम्मीद मालूम होती है कि आइंदा किसी वक़्त यहाँ के मुसलमान किसी ज़िंदा इस्लामी दावत के अलमबरदार बन सकें। हिंदुस्तान में बहुत बड़े पैमाने पर यह अमल जारी है कि यहाँ

के लोगों को तर्बीयत के सख़्त कोर्स से गुज़ारा जा रहा है। यह कोर्स जब मुकम्मल होगा तो यहाँ के मुस्लिम अफ़राद में, इंशाअल्लाह, वह संजीदगी और हक़ीक़तपसंदी आ चुकी होगी, जो इस्लाम की दावत का हामिल बनने के लिए है।

28 सितंबर, 1985

पैसा ख़र्च करने के सिलसिले में क़ुरआन में एतिदाल का हुक्म दिया गया है— "और न तो अपना हाथ गर्दन से बाँध लो और न उसे बिलकुल खुला छोड़ दो कि तुम मलामत-ज़दा और आजिज़ बनकर रह जाओ।" (17:29)

हदीस में आया है— "जिसने मियानारवी (moderation) इख़्तियार की, वह मुहताज नहीं हुआ।" (मुसनद अहमद, हदीस नंबर 4,269)

अक्सर परेशानियों का सबब यह होता है कि आदमी इख़राजात में एतिदाल की हद पर क़ायम नहीं रहता। शादी करना, घर बनाना और इस तरह के दूसरे इख़राजात का मसअला सामने आता है तो वह अपनी ताक़त से ज़्यादा ख़र्च कर डालता है। अगर ऐसे मौक़ों पर अपनी वुसअत को देखा जाए, न कि किसी ख़्याली मेयार को, तो कभी परेशानी का सामना न करना पड़े।

30 सितंबर, 1985

एंड्रयू कार्नेगी (1835-1919) ने स्टील की सनअत में काफ़ी तरक़्क़ी की। 1889 में उसने एक किताब छापी, जिसका नाम था— 'दौलत की बाइबल' (The Gospel of Wealth) इस किताब में उसने बताया कि दौलतमंद आदमी जब दौलत हासिल करे तो उसे चाहिए कि वह अपनी दौलत को अवाम (जनहित) के काम में लगाए।

A rich man should, after acquiring his wealth, distribute the surplus for the general welfare. (Andrew Carnegie)

यह एक निहायत अहम उसूल है। एंड्रयू कार्नेगी ने जो बात समाजी हवाले से कही, वही बात पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने मज़हबी हवाले में इस तरह कही है कि ख़ुदा तुम्हें दौलत दे तो तुम दाएँ-बाएँ और आगे-पीछे ख़र्च करो। (सही मुस्लिम, हदीस नंबर 990)

यह उसूल न सिर्फ़ आख़िरत की फ़लाह का ज़ामिन है, बल्कि दुनिया की तरक़्क़ी भी इसी से मिलती है। मौजूदा ज़माने में कई मुल्कों में बाहर से आए हुए अफ़राद (immigrants) के ख़िलाफ़ सख़्त नाराज़गी पैदा हुई। मसलन— अफ़्रीक़न मुल्क युगांडा में एशियाई लोगों के ख़िलाफ़, श्रीलंका में तामिल के ख़िलाफ़, पाकिस्तान में मुहाजिरीन के ख़िलाफ़ वग़ैरह। इसकी वजह यही थी कि इन लोगों ने अपनी कमाई हुई दौलत को सिर्फ़ अपनी ज़ात पर ख़र्च किया, मुक़ामी आबादी पर ख़र्च न किया।

जो तिजारती क़ौमें इस राज़ से वाक़िफ़ हैं, वे अपनी आमदनी का एक हिस्सा मुस्तक़िल तौर पर मुक़ामी आबादी की फ़लाह पर ख़र्च करती हैं। चुनाँचे वे निहायत कामयाब हैं। मिसाल के तौर पर— हिंदुस्तान में जैनी फ़िर्क़ा और पारसी फ़िर्क़ा। यह लोग बहुत कम तादाद (minority) में हैं। इसके बावजूद मुल्क की दौलत का बड़ा हिस्सा इनके क़ब्ज़े में है, मगर आज तक उनके ख़िलाफ़ कोई रद्द-ए-अमल नहीं हुआ। इसकी ख़ास वजह यह है कि वे अपनी कमाई का एक हिस्सा हर साल दूसरों के ऊपर ख़र्च करते हैं। मसलन— स्कूल, अस्पताल, तालीमी वज़ाइफ़ वग़ैरह।

1 अक्तूबर, 1985

उलेमा-ए-तफ़्सीर का कहना है कि क़ुरआन की तफ़्सीर का पहला ज़रिया ख़ुद क़ुरआन है और क़ुरआन की तफ़्सीर का दूसरा ज़रिया वे हदीस को क़रार देते हैं।

मसलन— सूरह फ़ातिहा में है— ग़ईरिल मग़ज़ूबी अलैहिम वलज़्ज़ाल्लीन (1:7) यानी उनका रास्ता नहीं, जिन पर तेरा ग़ज़ब हुआ और न उन लोगों का रास्ता, जो रास्ते से भटक गए। यहाँ सवाल है कि उनसे मुराद कौन लोग हैं। हदीस-ए-रसूल

से मालूम होता है कि 'मग़ज़ूबी अलैहिम' से मुराद यहूद हैं और 'ज़ालेन' से मुराद नसारा। (मुसनद अहमद, हदीस नंबर 19,381)

इसी तरह क़ुरआन में ज़िक्र है— "और उनके लिए जिस क़द्र तुमसे हो सके तैयार रखो क़ुव्वत।" (8:60) यानी यहाँ क़ुव्वत से क्या मुराद है? इस सिलसिले में हदीस में आया है कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया— "जान लो कि क़ुव्वत से मुराद तीरंदाज़ी है, जान लो कि क़ुव्वत से मुराद तीरंदाज़ी है, जान लो कि क़ुव्वत से मुराद तीरंदाज़ी है।" (सही मुस्लिम, हदीस नंबर 1,917)

ताहम इन मसादिर (sources) के साथ एक और चीज़ इंतिहाई ज़रूरी है और वह है तफ़क्कुह (हिक्मत-ओ-बसीरत)। अगर तफ़क्कुह न हो तो आदमी पहले ज़रिये और दूसरे ज़रिये का माहिर होने के बावजूद क़ुरआन की दुरुस्त तफ़्सीर न कर सकेगा। मसलन— पहली आयत (फ़ातिहा, 1:7) की तफ़्सीर में मज़्कूरा हदीस में सिर्फ़ आधी बात है। मुकम्मल बात एक दूसरी हदीस को मिलाने से समझ में आती है। एक दूसरी हदीस में उम्मत-ए-मुस्लिमा के बारे में आया है— "तुम ज़रूर पिछली उम्मतों की पैरवी करोगे, क़दम-ब-क़दम , यहाँ तक कि अगर वह किसी गोह के बल में दाख़िल हुए हैं तो तुम भी ज़रूर उसमें दाख़िल हो जाओगे।" हमने कहा— "ऐ ख़ुदा के रसूल, यहूद व नसारा?" आपने कहा— "और कौन!" (सही अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 7,320)

इसका मतलब यह है कि यहूद और नसारा ने बिगाड़ पैदा होने के बाद जो कुछ किया, वही सब मुसलमान भी बाद के ज़माने में करेंगे। इन दोनों हदीसों को सामने रखकर ग़ौर किया जाए तो यह मालूम होता है कि आयत में 'मग़ज़ूब' और 'ज़ालेन' से मुराद वह लोग हैं, जो अपने ज़वालयाफ़्ता ज़हनीयत की वजह से ख़ुदा की नाराज़गी का शिकार हो जाते हैं। क़दीम ज़माने में यहूद-ओ-नसारा ने ऐसा किया था, बाद के ज़माने में उम्मत-ए-मुहम्मदी पर ऐसा वक़्त आ सकता है।

इसी तरह दूसरी आयत (8:60) की तफ़्सीर में मज़्कूरा हदीस को भी बिलकुल लफ़्ज़ी मायने में ले लिया जाए तो इस्लाम ऐसी साइकल की मानिंद बन जाएगा, जिसका हैंडल कस दिया गया हो और वह साइकल दाएँ-बाएँ घूम नहीं सकती। हक़ीक़त यह है कि दूसरी आयत की यह तफ़्सीर एक ज़मानी तफ़्सीर है, न कि अब्दी

तफ़्सीर। अगर उस तफ़्सीर को अब्दी तफ़्सीर क़रार दिया जाए तो बाद के अदवार में मुसलमानों ने फ़ौजी क़ुव्वत के लिए जो नए-नए इज़ाफ़े किए, वह सब ग़ैर-इस्लामी क़रार पाएँगे या कम-से-कम यह कि बदलते हुए ज़माने के लिहाज़ से अपनी हिफ़ाज़त की क़ुव्वत के लिए क़ुरआन से हटना ज़रूरी होगा, वरना हम अपने दौर के लिहाज़ से अपने को ताक़तवर नहीं कह सकते।

3 अक्तूबर, 1985

मिसिज़ अनीस जंग की एक अंग्रेज़ी किताब 1985 में 'पेंगुइन बुक्स' के तहत छपी है, जिसका नाम है— 'हिंदुस्तान बे-नक़ाब' (Unveiling India)। मुसन्निफ़ा ने हिंदुस्तान में औरतों के हालात की तहक़ीक़ के लिए मुल्क के मुख़्तलिफ़ हिस्सों के सफ़र किए। बीदर में उनकी मुलाक़ात जलालुद्दीन चंगेज़ी से हुई। मुसन्निफ़ा के बयान के मुताबिक़, जलालुद्दीन चंगेज़ी ने कहा कि क़ुरआन में औरत को फ़ित्ना बताया गया है, वह जो मर्द को बहकाए और उसे मुसीबत में मुब्तला करे।

In the Koran she is described as a fitna, one who tempts man and brings trouble. (p. 30)

यह हवाला सही नहीं, क्योंकि क़ुरआन में ऐसी कोई आयत नहीं जिसमें औरत को फ़ित्ना कहा गया हो। अलबत्ता एक हदीस इस तरह आई है— "अपने बाद मैंने सबसे ज़्यादा मुज़िर फ़ित्ना जो मर्दों के लिए छोड़ा है, वह औरतें हैं।" (सही अल-बुख़ारी, नंबर 5,096)

हदीस के अल्फ़ाज़ बताते हैं कि उसमें मुस्तक़बिल के बारे में एक पेशीनगोई की गई है और वह यह कि आइंदा आने वाले दौर में इंसानी समाज में सबसे ज़्यादा दुश्वारी का सबब औरतें बनेंगी। उस दौर में औरतें मर्दों के लिए सबसे बड़ी आज़माइश बन जाएँगी।

जिस ज़माने में मोहतरमा अनीस जंग ने अपनी किताब लिखी है, उस ज़माने में यह पेशीनगोई अपनी कामिल सूरत में सामने आ चुकी है। यह एक साबितशुदा हक़ीक़त है कि जदीद दुनिया के मुआशरती बिगाड़ का सबसे बड़ा सबब जदीद

औरत है। आज आज़ाद-ए-निसवाँ (women liberation) के नाम पर औरत का जो हाल किया गया है, उसने जदीद मुआशरे को तबाह करके रखा है।

इस हदीस में यह नहीं है कि औरत बा-एतबार तख़्लीक़ की कोई बुरी चीज़ है। इसमें सिर्फ़ औरत के उस ग़लत इस्तेमाल का ज़िक्र है, जिसके नतीजे में औरत समाज के लिए ख़तरा बन जाती है।

4 अक्तूबर, 1985

मौलाना अमीरुल्लाह ख़ॉ क़ासमी एक अरबी मदरसा चलाते हैं। उन्होंने अपना एक दिलचस्प वाक़या बताया। एक सफ़र में उनकी मुलाक़ात एक अरब से हुई। अरब ने गुफ़्तगू के दौरान कहा— "चंसुका जय्यिदुन।"

मौलाना अमीरुल्लाह साहब इस जुमले को समझ न सके। उन्होंने अरब से दोबारा पूछा कि 'चंसुक' का मतलब क्या है? उसने काग़ज़ पर लिखकर बताया तो मालूम हुआ कि वह कह रहा है तुम्हारा चांस (chance) बहुत अच्छा है। अरबों में अंग्रेज़ी अल्फ़ाज़ कितने ज़्यादा आम हो गए हैं, इसकी यह एक दिलचस्प मिसाल है।

5 अक्तूबर, 1985

क़ुरआन के सिलसिले में एक मसअला इख़्तिलाफ़-ए-क़िरात का है, मगर इख़्तिलाफ़-ए-क़िरात का मतलब इख़्तिलाफ़-ए-मतन (text) नहीं है। क़ुरआन में जो इख़्तिलाफ़-ए-क़िरात है, वह दो क़िस्म का है। एक वह इख़्तिलाफ़, जो लहजे (accent) के फ़र्क़ का नतीजा है। चूँकि अरब के मुख़्तलिफ़ क़बाइल में अल्फ़ाज़ की अदायगी में बाज़ फ़र्क़ पाया जाता था, इसी बिना पर क़ुरआन की क़िरात में भी बाज़ मुक़ामात पर फ़र्क़ हो गया। मसलन— 'मालिकी यौमिद्दीन' (1:4) के बजाय 'मलिकी यौमिद्दीन' (मीम के बाद अलिफ़ के बग़ैर) या 'क़ुल आ-ऊज़ू बिरब्बिन्नास' (114:1) की जगह 'क़ुल आ-ऊज़ू बिरब्बिन्नात' वग़ैरह। इस क़िस्म का फ़र्क़ सिर्फ़ पढ़ने का फ़र्क़ है, उनमें किताबत के एतबार से कोई फ़र्क़ नहीं।

इख़्तिलाफ़-ए-क़िरात की दूसरी सूरत वह है, जिसमें लफ़्ज़ का फ़र्क़ पाया जाता है। मसलन— क़ुरआन में है— अउ-यकूनू लका बैतुम मिन् ज़ुख़्रुफ़िन (17:93) यानी तुम्हारे पास सोने का कोई घर हो जाए। इस आयत को हज़रत अब्दुल्लाह बिन मसऊद ने पढ़ा— यकूनालका बयतुम मिन् ज़ह्बिन (तफ़्सीर इब्ने-कसीर, जिल्द 5, सफ़्हा 120) या मसलन— सूरह अल-जुमा में है— "फसऔ ईला ज़िक्रिल्लाही"-62:9) यानी अल्लाह की याद की तरफ़ चल पड़ो। उसे बाज़ सहाबा ने इस तरह पढ़ा— "फ़मज़ू ईला ज़िक्रिल्लाही" (तफ़्सीर इब्ने-कसीर, जिल्द 8, सफ़्हा 120) या मसलन— सूरह अल-बक़रह में है— "लय्सा अलैकुम जुनाहुन अन तबतग़ू फ़ज़्लम मिर्रब्बिकुम।" (2:198) यानी तुम पर उसमें कोई गुनाह नहीं कि तुम अपने रब का फ़ज़्ल तलाश करो। उसे इब्ने-अब्बास ने इस तरह पढ़ा है—

"ला जुनाहा अलैकुम अन तबतग़ू फ़ज़्लम मिर्रब्बिकुम फ़ी मवासिमिल हज्जी (फ़ज़ाइ-लुल-कुरआन, अल क़ासिम बिन सल्लाम, सफ़्हा 325) यानी तुम पर इसमें कोई गुनाह नहीं कि तुम अपने रब का फ़ज़्ल तलाश करो हज के ज़माने में।"

इख़्तिलाफ़-ए-क़िरात की यह दूसरी मिसालें क़ुरआन का हिस्सा नहीं हैं, बल्कि वह तफ़्सीर हैं यानी सहाबी ने आयत की तशरीह करते हुए एक नया लफ़्ज़ इस्तेमाल किया, ताकि मुख़ातब उसे समझ सके, वरना दुनिया में ऐसा कोई क़ुरआन मौजूद नहीं जिसमें मतन की किताबत उस दूसरे तरीक़े से की हो।

किसी इबारत के मफ़हूम को खोलने के लिए उसके लफ़्ज़ को बदलना पड़ता है। इख़्तिलाफ़-ए-क़िरात की दूसरी क़िस्म का मतलब यही है, सहाबा ने तफ़्हीम के मक़सद से लफ़्ज़ बदलकर पढ़ा।

7 अक्तूबर, 1985

रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम के ज़माने में आपके हुक्म से कई मुअज़्ज़िनों को अपॉइंटमेंट किया गया। कहा जाता है कि हज़रत बिलाल इन मुअज़्ज़िनों के सदर थे। जब कोई हुक्म होता तो हज़रत बिलाल के वास्ते से तमाम दूसरे मुअज़्ज़िनों को उससे आगाह कर दिया जाता था। मसलन— एक रिवायत में

यह है— “आपने बिलाल को हुक्म दिया कि वह अज़ान में तशफ़ी करें और इक़ामत में ईतार करें।” (सुनन अल-निसाई, हदीस नंबर 627)।

इस क़िस्म की रिवायतों का मतलब हनफ़ी उलेमा इस तरह बताते हैं— “इससे मुराद यह है कि वह अज़ान में शुफा करें, उसे ऊँची आवाज़ में अदा करें और इक़ामत को नीची आवाज़ में अदा करें।” (तजरीद अल-क़ुदूरी, जिल्द 1, सफ़्हा 419)

दूसरी जगह इसका मतलब यह बताया गया है कि उसकी आवाज़ में ईतार हो यानी वह इक़ामत में जल्दी-जल्दी पढ़े, न कि अल्फ़ाज़ में ईतार (अल्फ़ाज़ को एक एक मर्तबा) (अल-बहर अल-राइक़, जिल्द 1, सफ़्हा 447)। इसके बरअक्स शाफ़ई वग़ैरह का कहना है कि यहाँ तशफ़ी और ईतार का मतलब यह है कि अज़ान के कलिमात दो बार अदा किए जाएँ और इक़ामत के कलिमात एक बार। हदीस में तअम्मुक़ और तदक़ीक़ (hair-splitting) ने कैसे अजीब-अजीब इख़्तिलाफ़ात पैदा कर दिए हैं।

8 अक्तूबर, 1985

जनाब फ़रीद अल-वहीदी साहब जेद्दाह में रहते हैं। उनका क़दीम वतन देवबंद था। अब वह सऊदी शहरी हो चुके हैं और वहाँ के एक कामयाब ताजिर हैं। उन्होंने अपनी ज़िंदगी का तजुर्बा इन अल्फ़ाज़ में बयान किया—

“जो चींटी बनकर रहता है, वह शक्कर खाता है और जो शेर बनकर रहता है, वह गोली खाता है।”

9 अक्तूबर, 1985

एक अरब से मुलाक़ात हुई। उन्हें मैंने हज़रत उमर का यह क़ौल सुनाया— “बेशक अल्लाह के कुछ बंदे हैं, जो बातिल को मिटाते हैं, उसे तर्क करके।” (हिलयातुल औलिया, जिल्द 1, सफ़्हा 55)

उन्होंने उसे पसंद करते हुए कहा कि इसी मफ़हूम की एक कहावत अरबों में राइज है, जो कि इस तरह है— “बोलना अगर चाँदी हो तो चुप रहना सोना है।” (अल-ज़ुह्द, इब्ने-अबी आसिम, असर नंबर 33)

10 अक्तूबर, 1985

सत्रहवीं सदी के फ़्रैंच राइटर और मुफ़क्किर जेन दी ला बरवेयर (1645-1696) का क़ौल है कि इस दुनिया में सिर्फ़ दो तरीक़े हैं, जिनके ज़रिये आदमी अपने आपको ऊपर उठा सकता है— या तो अपनी ज़ाती मेहनत से या दूसरों की कमज़ोरी से फ़ायदा उठाकर।

In the world there are only two ways of raising one self, either by one's own hard work or by the weakness of others.

इसकी एक मिसाल हिंदुस्तान है और दूसरी मिसाल जापान की जदीद तारीख़ है। हिंदुस्तान ने 1947 में जो आज़ादी हासिल की, वह दरअसल दूसरी जंग-ए-अज़ीम में बर्तानिया की कमज़ोरी से फ़ायदा उठाना था। दूसरी जंग-ए-अज़ीम के बाद जापान ने ज़बरदस्त तरक़्क़ी हासिल की। इसका राज़ जापानी क़ौम की वह मेहनत थी, जो उसने जंग में शिकस्त के बाद मुसलसल अंजाम दी।

11 अक्तूबर, 1985

मेरा ख़्याल यह है कि हिंदुस्तान के मुसलमानों के पास क़ौमी हैसियत से मुस्बत एहसास मौजूद नहीं है। वाहिद चीज़ जो उनके पास है, वह मुख़ालिफ़-ए-हिंदू एहसास (anti-Hindu feeling) है। इसी पर मौजूदा ज़माने के मुसलमान खड़े हुए हैं। यही वजह है कि जब भी मुसलमानों के अंदर कोई ऐसी तहरीक उठती है, जिसमें हिंदू के ख़िलाफ़ जज़्बात के लिए अपील हो, तो फ़ौरन मुसलमानों की भीड़-की-भीड़ इकट्ठी हो जाती है। इसके अलावा किसी और दावत पर उनकी भीड़ जमा नहीं होती।

मौजूदा ज़माने के लीडरों ने मुसलमानों के उस एहसास को भरपूर तौर पर इस्तेमाल किया है। हर वह मुस्लिम लीडर जिसने मौजूदा ज़माने में बड़ी मक़बूलियत हासिल की है, उसने यह मक़बूलियत इसी मुख़ालिफ़ाना एहसास को इस्तेमाल करके हासिल की है, मगर मैं इस क़िस्म की क़यादत को सरासर बातिल समझता हूँ। किसी क़ौम को मुस्बत नफ़्सियात पर उठाना क़यादत है और किसी क़ौम को मनफ़ी नफ़्सियात पर उठाना हलाकत।

12 अक्तूबर, 1985

मुस्लिम रहनुमाओं ने मुल्क की तक़्सीम 1947 में इसलिए कराई थी कि इससे हिंदू-मुस्लिम मसअला ख़त्म हो जाएगा, मगर नतीजा उनके अंदाज़े के बिलकुल बरअक्स निकला। तक़्सीम ने हिंदुओं और मुसलमानों के इख़्तिलाफ़ात को और बढ़ा दिया। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका 1984 ने बिलकुल दुरुस्त लिखा है—

After Partition of the Subcontinent into India and Pakistan, the political controversies between India and Pakistan constituted a complication. (EB, 8/907)

यानी इंडिया और पाकिस्तान की सूरत में बर्र-ए-सग़ीर (Indian subcontinent)) की तक़्सीम के बाद दोनों मुल्कों में सियासी इख़्तिलाफ़ात पहले से भी ज़्यादा हो गए।

इस नतीजे को बतौर-ए-वाक़या ख़ुद मुस्लिम लीडर भी तस्लीम करते हैं। अलबत्ता इसकी ज़िम्मेदारी को यकतरफ़ा तौर पर हिंदू अक्सरीयत पर डालते हैं। उनकी यह रविश भी किस क़द्र अजीब है। जो नतीजा उनकी अपनी सियासी फ़िक्र को ग़लत साबित कर रहा था, उसे इन्होंने दोबारा दूसरों को मुल्ज़िम ठहराने का ज़रिया बना लिया। सवाल यह है कि तक़्सीम के ऑप्रेशन के बावजूद अगर हालात की बागडोर बदस्तूर हिंदू के हाथ में है तो उस हौलनाक ऑप्रेशन की क्या ज़रूरत थी।

14 अक्तूबर, 1985

जन्नत के बारे में क़ुरआन में है— “इनदाका” और “इनदा-रब्बिहिम्” के अल्फ़ाज़ आए हैं। इससे मैं यह समझा हूँ कि जन्नत मजलिस-ए-ख़ुदावंदी में जगह पाने का दूसरा नाम है। ख़ुदा की सिफ़त-ए-ख़ास यह है कि वह परफ़ेक्ट (perfect) है। ख़ुदा के क़रीब जो दुनिया होगी, वहाँ हर चीज़ परफ़ेक्ट होगी। वहाँ परफ़ेक्ट बातें होंगी। परफ़ेक्ट सुलूक होगा। परफ़ेक्ट सामान होंगे। यह एक परफ़ेक्ट माहौल होगा और परफ़ेक्ट माहौल में जीने ही का नाम जन्नत है।

यह परफ़ेक्ट दुनिया (perfect world) इतनी ज़्यादा क़ीमती है कि इंसान का कोई भी अमल, ख़्वाह वह कितनी ही मिक़दार में हो, उसकी क़ीमत नहीं बन सकता। हक़ीक़त यह है कि किसी भी शख़्स को अपने अमल की क़ीमत पर जन्नत में जगह नहीं मिल सकती। सिर्फ़ एक चीज़ है, जो जन्नत की क़ीमत है और वह है परफ़ेक्ट थिंकिंग (perfect thinking)। आदमी अमल की सतह पर परफ़ेक्ट नहीं बन सकता, मगर सोच की सतह पर वह परफ़ेक्ट बन सकता है। यही वह चीज़ है, जिसे मौजूदा दुनिया में आदमी को हासिल करना है और यही वह चीज़ है, जो किसी आदमी को जन्नत में दाख़िले का मुस्तहिक़ बनाएगी।

15 अक्तूबर, 1985

अरबी ज़बान में ग़ैर-मामूली तौर पर यह सलाहियत है कि वसीअ मज़ामीन को मुख़्तसर लफ़्ज़ों में अदा कर सके। ग़ालिबन किसी और ज़बान में यह सलाहियत इतनी ज़्यादा नहीं।

माहनामा अल-अरबी (कुवैत की इशाअत अक्तूबर, 1985) में सफ़्हा 32 पर एक तस्वीर है। उस तस्वीर में एक अरब शेख़ अपने मख़्सूस हुलिए में छड़ी लिये हुए खड़ा है। उसके पीछे एक हरे-भरे फ़ार्म की तस्वीर है, जिसमें खेत और बाग़ दिखाई दे रहे हैं। उस तस्वीर के ऊपर किसान की ज़बान में लिखा हुआ है— “इन्होंने बोया तो हमने खाया, हम बोते हैं, ताकि वे खाएँ।”

‘ज़रा-ऊ-फ़ा-आकलना व नज़रा-ओ लियाअ-कुलु’

यानी हमारी पिछली नस्लों ने दरख़्त लगाए, जिनका फल हमें मिला। अब हम दरख़्त लगा रहे हैं, ताकि हमारे बाद की नस्लें उसका फल पा सकें। जो लोग अरबी ज़बान और उसके साथ दूसरी ज़बानें जानते हैं, वे समझ सकते हैं कि उस तसव्वुर को इतने कम अल्फ़ाज़ में इतनी ख़ूबसूरती के साथ अदा करना किसी और ज़बान में शायद मुमकिन नहीं।

16 अक्तूबर, 1985

ईमान एक दरयाफ़्त है और दावत उस दरयाफ़्त का एक ख़ारिजी इज़्हार। शरई एतबार से दावत एक ख़ुदाई हुक्म की तामील है और नफ़्सियाती एतबार से एक अंदरूनी तपिश का बेक़राराना इज़्हार। दावत के एक ख़ुदाई हुक्म होने का शऊर न हो तो आदमी साबित क़दमी के साथ उस पर क़ायम नहीं रह सकता और अगर दावत के पीछे नफ़्सियाती इंक़लाब की ज़मीन मौजूद न हो तो उसके अंदर वह कैफ़ीयत और वह ज़ोर पैदा नहीं हो सकता, जो सुनने वाले को हिलाए और उसे अपनी सोच बदलने पर मजबूर कर दे।

17 अक्तूबर, 1985

हदीस में आया है— “दुनिया मोमिन के लिए क़ैदख़ाना और काफ़िर के लिए जन्नत है।” (सही मुस्लिम, नंबर 2,956)

इसकी वजह यह है कि मोमिन ख़ुदा के पड़ोस में रहना चाहता है और दुनिया में उसे इंसानों के पड़ोस में रहना पड़ता है। उसकी नज़रों में ‘परफ़ेक्ट’ समाया हुआ होता है और दुनिया में उसे ‘इम-परफ़ेक्ट’ से निबाह करना पड़ता है। वह कामिल सच्चाई का तलबगार होता है और दुनिया में वह देखता है कि झूठ और नाइंसाफ़ी और धाँधली की हुक्मरानी है। वह उसूल पसंद होता है, जबकि दुनिया में उसे हर तरफ़ बे-उसूली का राज़ दिखाई देता है।

ग़ैर-मोमिन बा-उसूल या आइडीयलिस्ट नहीं होता। उसके सामने सिर्फ़ अपना ज़ाती मफ़ाद होता है, ख़्वाह वह जिस तरह भी मिले। वह हर सूरत-ए-हाल में ढलकर अपना मफ़ाद महफ़ूज़ कर लेता है। वह सही और ग़लत के झंझट में नहीं पड़ता, इसीलिए उसे कोई परेशानी भी लाहक़ नहीं होती।

18 अक्तूबर, 1985

ख़्वाजा ग़ुलाम अस्सकलैन ने दूसरे मुल्कों में मुसलमानों का तब्लीग़ी मिशन भेजने की तज्वीज़ की मुख़ालिफ़त करते हुए लिखा था—

"फ़र्ज़ कीजिए कि कुछ हज़रात यह मिशन लेकर जाते हैं और दूसरे मज़ाहिब के पैरुओं के सामने इस्लामी तालीमात को पेश करते हैं कि इस्लाम हमें सच्चाई, इंसाफ़, कारोबार में दयानतदारी, रोज़मर्रा की ज़िंदगी में बाहमी तआवुन, ग़रीबों की मदद करना, शराबनोशी और सूदख़ोरी से दूर रहना सिखाता है। तब मुमकिन है कि वह लोग यह दरयाफ़्त करें कि क्यों साहब, हिंदुस्तान के मुसलमान तो आम तौर पर दयानतदार होंगे। आपके मुआशरे में इक़्तिसादी बराबरी (financial equality) होंगी और वहाँ न कोई मुसलमान शराब पीता होगा और न सूद खाता होगा। अगर हमारे मुबल्लिग़ीन ने रास्ता-गोई से काम लिया तो उन्हें कहना पड़ेगा कि नहीं भाई, हमारे यहाँ भी यह इन्फ़िरादी व इज्तिमाई ख़राबियाँ मौजूद हैं, तो फिर वे ज़रूर यह कहेंगे कि आप अपने मुल्क वापस जाकर मुसलमानों में इस्लाम की तब्लीग़ करें और जब वे सही मायनों में मुसलमान बन जाएँ तो फिर आप हमारे पास आकर तल्क़ीन (नसीहत) करें। चुनाँचे मुसलमान का पहला फ़र्ज़ यह है कि वह पहले अपने आपको सच्चा मुसलमान बनाने की कोशिश करे।"

ख़्वाजा साहब की यह तन्क़ीद सही नहीं। दावत-ओ-तब्लीग़ का मक़सद लोगों को मुस्लिम मुआशरे की तरफ़ बुलाना नहीं है, बल्कि ख़ुदा की तरफ़ बुलाना है। तब्लीग़ का मक़सद लोगों को हक़ीक़त-ए-आख़िरत से बाख़बर करना है, न कि किसी दुनियावी समाज से बाख़बर करना।

19 अक्तूबर, 1985

जन्नत सब्र के उस पार है, मगर अक्सर लोग जन्नत को सब्र के इस पार तलाश करने लगते हैं।

21 अक्तूबर, 1985

एक साहब थे। वह किसी साबिक़ नवाब के ख़ानदान से ताल्लुक़ रखते थे। नवाबी तो ख़त्म हो चुकी थी, मगर 'पिदरम सुल्तान बूद' (मेरा बाप बादशाह था) की नफ़्सियात उनके अंदर पूरी तरह बाक़ी थीं। उनकी एक लड़की थी। उसका रिश्ता कई जगह से आया, मगर उन्होंने इनकार कर दिया, क्योंकि यह रिश्ते उनके ख़्याल से उनके शायान-ए-शान न थे और जिस रिश्ते को वह अपने शायान-ए-शान समझते थे, वह उन्हें मिल न सका। नतीजा यह हुआ कि उनकी लड़की की शादी न हो सकी।

यही केस ज़्यादा बड़ी शक्ल में मौजूदा ज़माने के मुसलमानों का है। मुसलमानों की गुज़री हुई तारीख़ ने उन्हें एक क़िस्म के एहसास-ए-फ़ख़्र में मुब्तला कर दिया है। इस एहसास-ए-फ़ख़्र का यह नतीजा है कि कोई छोटा काम उन्हें अपने शायान-ए-शान नज़र नहीं आता। हमेशा बड़े काम की तरफ़ दौड़ते हैं, क्योंकि वही काम उन्हें अपने शायान-ए-शान नज़र आता है जिसे बड़े-बड़े लफ़्ज़ों में बयान किया जा सकता हो और इसी एहसास-ए-फ़ख़्र की नफ़्सियात ने मौजूदा ज़माने के तमाम मुस्लिम रहनुमाओं की कोशिशों को बे-नतीजा बना दिया। मौजूदा ज़माने में जो भी मुस्लिम रहनुमा उठा, उसने हमेशा किसी बड़े काम का नारा लगाया, हर आदमी ने मीनार पर खड़ा होना चाहा, कोई भी ज़मीन पर खड़ा होने के लिए तैयार न हुआ। यही सबसे बड़ी वजह है कि बेशुमार हंगामाख़ेज़ तहरीकों के बावजूद मौजूदा ज़माने में मुसलमानों की मिल्ली तामीर वाक़या न बन सकी, क्योंकि हक़ीक़ी तामीर के लिए हमेशा छोटी सतह से आग़ाज़ करना पड़ता है, मुस्लिम रहनुमाओं ने अपने पुर-फ़ख़्र नफ़्सियात की बिना पर छोटी सतह के काम को अपने शायान-ए-शान न समझा, इसलिए वे कोई हक़ीक़ी तामीरी काम भी अंजाम न दे सके।

22 अक्तूबर, 1985

ज़िंदगी दो मुतज़ाद पहलुओं (contradictory aspects) के दरम्यान निबाह करने का नाम है। ज़िंदगी का सफ़र एक एतबार से तनी हुई रस्सी पर चलने (tight-rope walking) की मानिंद है। आदमी को एक ही वक़्त दो सिम्तों की रियायत करते हुए चलना पड़ता है। उन दोतरफ़ा तवाज़ुन में अगर फ़र्क़ आ जाए तो ज़िंदगी का सारा मामला बिगड़कर रह जाएगा।

23 अक्तूबर, 1985

क़दीम ज़माने में अपनी महबूब शख़्सियत को बढ़ाने और अपनी नापसंदीदा शख़्सियत को घटाने के लिए बहुत से क़िस्से घड़े गए। एक मिसाल यह है— कहा जाता है कि इमाम अबू हनीफ़ा (80-150 हिजरी) इल्म हासिल करने के लिए मदीना गए। वहाँ उनकी मुलाक़ात इमाम बाक़िर (57-114 हिजरी) से हुई। तआरुफ़ के बाद इमाम बाक़िर ने कहा— “क्या तुम ही क़यास की बिना पर हमारे दादा की हदीसों की मुख़ालिफ़त करते हो।” अबू हनीफ़ा ने कहा— “इयाज़ बिल्लाह (अल्लाह की पनाह), हदीस की कौन मुख़ालिफ़त कर सकता है?” फिर मुख़्तसर गुफ़्तगू के बाद दोनों में हस्ब-ए-ज़ैल मुक़ालमा हुआ।

अबू हनीफ़ा— मर्द ज़ईफ़ है या औरत?

इमाम बाक़िर— औरत।

अबू हनीफ़ा— विरासत में मर्द का हिस्सा ज़्यादा है या औरत का?

इमाम बाक़िर— मर्द का।

अबू हनीफ़ा— अगर मैं क़यास लगाता तो कहता कि औरत को ज़्यादा हिस्सा दिया जाए, क्योंकि ज़ाहिर है क़यास की बिना पर कमज़ोर को ज़्यादा मिलना चाहिए।

इमाम बाक़िर उस गुफ़्तगू को सुनकर बहुत ख़ुश हुए और उठकर उनकी पेशानी चूमी।

इस वाक़ये को ग़ौर से देखा जाए तो यह एक बनावटी क़िस्सा मालूम है। इमाम बाक़िर ने इमाम अबू हनीफ़ा पर जो इल्ज़ाम लगाया, वह हदीस को रद्द करने का था, न कि क़ुरआन को रद्द करने का। जबकि मज़्कूरा गुफ़्तगू के मुताबिक़ इमाम अबू हनीफ़ा ने जो मसअला बयान किया, वह क़ुरआन से साबित है, उसका ताल्लुक़ हदीस से नहीं। इमाम अबू हनीफ़ा जैसा ज़हीन आदमी यह नहीं कर सकता कि सवाल हदीस के बारे में किया जाए और वह जवाब क़ुरआन के बारे में देने लगें।

इस क़िस्म के झूठे क़िस्से-कहानियों ने हमारे बेशतर लिटरेचर को ग़ैर-साइंटिफिक बना दिया है। उनसे अक़ीदतमंदी का मिज़ाज रखने वाला आदमी तो फ़ायदा उठा सकता है, मगर इल्मी ज़ौक़ रखने वाले आदमी के लिए उसके फ़ायेदा बहुत कम हैं।

24 अक्तूबर, 1985

ख़वारिज का यह कहना था कि ख़िलाफ़त किसी क़ौम या क़बीले के साथ ख़ास नहीं है। हर वह शख़्स ख़लीफ़ा बन सकता है, जिसके अंदर ख़िलाफ़त की शर्तें पाई जाएँ। बज़ाहिर यह एक सही बात मालूम होती है, मगर यह सहाबी-ए-रसूल अली इब्ने-अबी तालिब के अल्फ़ाज़ में, एक हक़ बात जिससे बातिल मत्लूब है। (सही मुस्लिम, हदीस नंबर 1,066)

असल यह है कि अरब दो बड़े क़बाइली गिरोहों में तक़सीम थे— मुज़र और रबीया। क़ुरैश का ताल्लुक़ मुज़र से था और ख़वारिज ज़्यादातर क़बीला रबीया से ताल्लुक़ रखते थे। क़बीला मुज़र और क़बीला रबीया में जाहिलियत के ज़माने से अदावत चली आ रही थी। सहाबा किराम ने जब अरब के हालात की रियायत करते हुए क़ुरैश में से ख़लीफ़ा का इंतिख़ाब किया तो क़बीला रबीया के लोग बिगड़ गए, क्योंकि क़ुरैश का ताल्लुक़ क़बीला मुज़र से था। ऐसी हालत में ख़वारिज जो उसूल पेश करते थे, उसका मक़सद अपने क़बीले के लिए ख़िलाफ़त का हक़ साबित करना था, न कि ज़्यादा क़ाबिल शख़्स के हक़ में उसका हक़ साबित करना।

25 अक्तूबर, 1985

अहद-ए-वुस्ता (medevial period) में शहंशाह और पोप के दरम्यान जो झगड़े हुए, उनमें सारी बहस इस पर थी कि हज़रत-ए-ईसा (या ख़ुदा) ने दुनिया की हुकूमत पोप के सपुर्द की है या शहंशाह के और अगर इन दोनों में इख़्तिलाफ़ हो तो क़ौम को किसके हुक्म पर चलना चाहिए।

आज यह बहस बड़ी अजीब मालूम होती है, क्योंकि आज हुकूमत-ओ-सियासत के मामलों में मसीह का दख़ल है और न 'पोप' का। आज इन मामलों में सारी हैसियत अवाम की मानी जाती है या अवाम के मुंतख़ब नुमाइंदों की। यह एक मिसाल है, जिससे अंदाज़ा होता है कि ज़मानी हालात कितना ज़्यादा अहमियत रखते हैं। किसी फ़िक्र की उमूमी कामयाबी का इन्हिसार तमामतर उसी पर होता है कि ज़मानी हालात उसके मुआफ़िक़ हैं या उसके ख़िलाफ़। आदमी अगर हुकूमत के निज़ाम में तब्दीली लाना चाहता है तो इससे पहले उसे लोगों की सोच में तब्दीली लाना होगा। इसके बाद ही वह हुकूमत के निज़ाम में कोई हक़ीक़ी तब्दीली लाने में कामयाब हो सकता है।

26 अक्तूबर, 1985

टकराव के मैदान से हटना आदमी को तामीर का वक़्फ़ा अता करता है और इस दुनिया में वक़्फ़ा-ए-तामीर को पाना ही किसी आदमी की सबसे बड़ी कामयाबी है। एक पिछड़े हुए गिरोह की सबसे बड़ी ज़रूरत यह है कि वह अपने लिए वक़्फ़ा-ए-तामीर को पा ले। इस वक़्फ़ा-ए-तामीरी को हासिल करने की वाहिद लाज़िमी क़ीमत यह है कि पिछड़ा हुआ गिरोह निज़ाम के मुक़ाम से अपने आपको हटाए।

इस दुनिया में आदमी हमेशा दो चीज़ों के दरम्यान होता है— मसाइल और मवाक़े। अक़्लमंद वह है, जो मसाइल को मुस्तक़बिल के ख़ाने में डाल दे और अपनी सारी ताक़त मौक़ों को इस्तेमाल करने में लगाए। मसाइल में उलझकर वह दोनों को खोएगा, जबकि मौक़ों को इस्तेमाल करके वह बिल आख़िर दोनों को पा लेगा। यही

बात है जिसे एक मुफ़क्किर ने इन अल्फ़ाज़ में अदा किया है— मसाइल को भूखा रखो, मौक़ों को खिलाओ।

Starve the Problems, Feed the Opportunities

1 नवंबर, 1985

इंसानों में कुछ कम सलाहियत के लोग होते हैं और कुछ आला सलाहियत के लोग। इस हक़ीक़त को क़ुरआन में इस तरह बयान किया गया है— "और हमने एक को दूसरे पर फ़ौक़ियत दी है, ताकि वे एक-दूसरे से काम लें।" (43:32)

कमतर सलाहियत के लोग इसलिए होते हैं कि वे किसी के पीछे चलें। यह सिर्फ़ आला सलाहियत के अफ़राद हैं, जो तारीख़ बनाते हैं। ऊँची सलाहियत के अफ़राद कोई बड़ा काम सिर्फ़ उस वक़्त कर पाते हैं, जबकि वे 'सब्र' की सतह पर काम करने के लिए राज़ी हों। इस सिलसिले में क़ुरआन के अल्फ़ाज़ इस तरह हैं— "और हमने उनमें पेशवा बनाए, जो हमारे हुक्म से लोगों की रहनुमाई करते थे, जबकि उन्होंने सब्र किया।" (32:24)

बड़ा काम करने का वाहिद राज़ यह है कि आदमी छोटा काम करने पर अपने आपको राज़ी कर सके। ज़िंदगी की तामीर में अक्सर ऐसा होता है कि आदमी को गुमनामी में जीना पड़ता है। उसे कभी आगे बढ़ने के बजाय पीछे हटना पड़ता है। उसे ऐसा काम करना पड़ता है, जिसमें उस पर बुज़दिली और समझौता करने (compromise) का इल्ज़ाम लगाया जाए।

मौजूदा ज़माने में बहुत से आला सलाहियत के अफ़राद पैदा हुए। मगर उनमें से हर शख़्स का यह हाल हुआ कि उसका अपना शख़्सी गुंबद तो खड़ा हो गया, मगर उसके ज़रिये से मिल्लत का महल तामीर न हो सका। उसकी वाहिद सबसे बड़ी वजह यह है कि उनकी हौसलामंदी उनके लिए 'छोटा काम' करने में रुकावट हो गई। उनमें से हर शख़्स ऐसे कामों के पीछे दौड़ता रहा जिनको बड़े बड़े अल्फ़ाज़ में बयान किया जा सकता हो ऐसा अमल सिर्फ़ शख़्सियतें बनाता है, वह क़ौमों की तामीर नहीं करता।

2 नवंबर, 1985

मैं अक्सर सोचता था कि दरख़्त इतने ज़्यादा हसीन क्यों मालूम होते हैं। आख़िर इसकी वजह यह समझ में आई कि दरख़्त दूसरों की ज़िंदगी में दख़ल नहीं देते। हर दरख़्त अपने आपमें जीता है। हर दरख़्त अपना रिज़्क़ ख़ुद हासिल करता है। मज़ीद यह कि वह दुनिया से जितना लेता है, उससे ज़्यादा वह दुनिया को लौटाता है। वह दुनिया से मिट्टी-पानी जैसी चीज़ें लेता है, मगर वह उसे हरियाली और फूल और फल की सूरत में वापस करता है।

इंसान का मामला इसके बरअक्स है। इंसान दूसरों की ज़िंदगी में मदाख़लत करके उन्हें भड़काता है। वह दूसरों का शोषण करता है। वह चाहता है कि दूसरों को कुछ न दे और दूसरों से उनका सब कुछ ले ले। यही फ़र्क़ है जिसने दरख़्त को हर एक के लिए पुरकशिश बना दिया है और इंसान को ऐसा बना दिया है, जिसमें दूसरों के लिए कोई कशिश नहीं।

4 नवंबर, 1985

हिंदुस्तानी मुसलमानों की तक़रीरें और तहरीरें पढ़िए तो ऐसा मालूम होगा गोया कि वही हैं, जिन्होंने हिंदुस्तान को आज़ादी दिलाई। वही हैं, जिन्होंने सर व धड़ की बाज़ी लगाकर हिंदुस्तान को बरतानी सियासी क़ब्ज़े से आज़ाद किया, मगर आज़ादी के बाद लिखने वालों ने हिंदुस्तान की जो तारीख़ लिखी है, उसमें मुसलमानों की कोई हैसियत नहीं। तारीख़-ए-आज़ादी-ए-हिंद में मुसलमान सिर्फ़ तारीख़ के फुटनोट (footnote of history) बनकर रह गए हैं।

बड़ा काम वह है, जिसका एतराफ़ करने पर दूसरे लोग मजबूर हो जाएँ। जो काम हमारे अपने ज़हनी साँचें में बड़ा हो और उससे बाहर जाते ही वह छोटा हो जाए तो वह दरअसल बड़ा काम था ही नहीं।

5 नवंबर, 1985

हर इंसान के ऊपर फ़ितरत का एक चौकीदार मुक़र्रर है, जो उसे बुराई से रोकता है। यह हया और शर्म का जज़्बा है। जिस आदमी के अंदर हया न रहे, उसके अंदर गोया बुराई की आख़िरी रोक बाक़ी न रही। हया के सिलसिले में दो रिवायतें हैं—

रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने कहा कि नबूव्वत के ज़रिये जो बातें मिलीं, उनमें से एक बात यह है कि जब तुम्हारे अंदर शर्म न रहे तो जो चाहे करो। (सही अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 3,483)

अल-क़मा बिन उलासा ने कहा— "ऐ ख़ुदा के रसूल! मुझे नसीहत कीजिए। आपने फ़रमाया कि अल्लाह से इस तरह हया करो, जिस तरह तुम अपनी क़ौम की बाअसर शख़्सियतों से हया करते हो।" (अदब अल-दुनिया वा-अलदीन, अल-मावर्दी, सफ़्हा 249)